सामयिक वार्ता

हिन्दू बनाम हिन्दू

सितम्बर 2015, मूल्य : 20 रुपए

- लोकतंत्र, समाजवाद और कल्याणकारी राज्य
- पूँजीवाद के मूल आधार और जनांदोलन
- विषमता की चौड़ी होती खाई
- विवेक की पुकार
- बड़े बांध और विकास
- बहुलता देश की ताकत

जयप्रकाश

रामधारी सिंह दिनकर

अगस्त क्रांति के नायक जयप्रकाश जब 1946 में जेल से छूट कर आये तब पटना के गांधी मैदान में दिनकर ने जयप्रकाश के स्वागत में यह कविता सुनाई थी। 5 जून 1974 को उसी मैदान में आयोजित जिस विशाल सभा में जयप्रकाश ने 'संपूर्ण क्रांति' का आवाहन किया, फणीश्वरनाथ रेणु ने इस कविता को उस मंच से सुनाया था।

झंझा सोई, तूफान रुका,
प्लावन जा रहा कगारों में
जीवित है सबका तेज किन्तु!
अब भी तेरे हुंकारों में।
दो दिन पर्वत का मूल हिला,
फिर उतर सिन्धु का ज्वार गया,
पर, सौंप देश के हाथों में
वह एक नई तलवार गया।
'जय हो' भारत के नये खड्ग
जय तरुण देश के सेनानी!
जय नई आग! जय नई ज्योति!
जय नये लक्ष्य के अभियानी!
स्वागत है, आओ, काल-सर्प के
फण पर चढ़ चलने वाले!
स्वागत है, आओ, हवनकुण्ड में
कूद स्वयं बलने वाले!
मुट्ठी में लिये भविष्य देश का,
वाणी में हुंकार लिये,
मन से उतार कर हाथों में
निज स्वप्नों का संसार लिये।
सेनानी! करो प्रयाण अभय,
भावी इतिहास तुम्हारा है!
ये नखत अमा के बुझते हैं,
सारा आकाश तुम्हारा है।

जो कुछ था निर्गुण, निराकार,
तुम उस द्युति के आकार हुए,
पी कर जो आग पचा डाली,
तुम स्वयं एक अंगार हुए।
साँसों का पाकर वेग देश की
हवा तपी-सी जाती है,
गंगा के पानी में देखो,
परछाई आग लगाती है।
विप्लव ने उगला तुम्हें, महामणि
उगले ज्यों नागिन कोई!
माता ने पाया तुम्हें यथा
मणि पाये बड़भागिन कोई।
लौटे तुम रूपक बन स्वदेश की
आग भरी कुरबानी का,
अब 'जयप्रकाश' है नाम देश की
आतुर, हठी जवानी का।
कहते हैं उसको 'जयप्रकाश'
जो नहीं मरण से डरता है,
ज्वाला को बुझते देख, कुण्ड में
स्वयं कूद जो पड़ता है।
है 'जयप्रकाश' वह जो न कभी
सीमित रह सकता घेरे में,
अपनी मशाल जो जला
बाँटता फिरता ज्योति अँधेरे में।

है 'जयप्रकाश' वह जो कि पंगु का
चरण, मूक की भाषा है,
है 'जयप्रकाश' वह टिकी हुई
जिस पर स्वदेश की आशा है।
हाँ, 'जयप्रकाश' है नाम समय की
करवट का, अँगड़ाई का
भूचाल, बवण्डर के ख्वाबों से
भरी हुई तरुणाई का।
है 'जयप्रकाश' वह नाम जिसे
इतिहास समादर देता है,
बढ़ कर जिसके पद-चिह्नों को
उर पर अंकित कर लेता है।
ज्ञानी करते जिसको प्रणाम,
बलिदानी प्राण चढ़ाते हैं,
वाणी की अंग बढ़ाने को
गायक जिसका गुण गाते हैं।
आते ही जिसका ध्यान,
दीप्त हो प्रतिभा पंख लगाती है,
कल्पना ज्वार से उद्वेलित
मानस-तट पर थर्राती है।
वह सुनो, भविष्य पुकार रहा,
वह दलित देश का त्राता है,
स्वप्नों का द्रष्टा 'जयप्रकाश'
भारत का भाग्य-विधाता है।'

गांधी

– रामधारी सिंह दिनकर

देश में जिधर भी जाता हूँ,
उधर ही एक आह्वान सुनता हूँ
''जड़ता को तोड़ने के लिए
भूकम्प लाओ ।
घुप्प अँधेरे में फिर
अपनी मशाल जलाओ ।
पूरे पहाड़ हथेली पर उठाकर
पवनकुमार के समान तरजो ।
कोई तूफान उठाने को
कवि, गरजो, गरजो, गरजो !"
सोचता हूँ, मैं कब गरजा था ?
जिसे लोग मेरा गर्जन समझते हैं,
वह असल में गाँधी का था,
उस गाँधी का था, जिस ने हमें जन्म दिया था ।
तब भी हम ने गाँधी के
तूफान को ही देखा,
गाँधी को नहीं ।

वे तूफान और गर्जन के
पीछे बसते थे ।
सच तो यह है
कि अपनी लीला में
तूफान और गर्जन को
शामिल होते देख
वे हँसते थे ।
तूफान मोटी नहीं,
महीन आवाज से उठता है ।
वह आवाज
जो मोम के दीप के समान
एकान्त में जलती है,
और बाज नहीं,
कबूतर के चाल से चलती है ।
गाँधी तूफान के पिता
और बाजों के भी बाज थे ।
क्योंकि वे नीरवताकी आवाज थे।

सामयिक वार्ता

सितम्बर 2015 वर्ष 39 अंक 1-2

संस्थापक संपादक
किशन पटनायक

संपादक मंडल
सच्चिदानंद सिन्हा (अध्यक्ष)
कमल बनर्जी, अफलातून, बाबा मायाराम,
संजय भारती, चंचल मुखर्जी (संयोजक)

संपादन सहयोग
लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन
अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन
अरुण कुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव
महेश विक्रम सिंह

प्रबन्ध सहयोग : नीता चौबे

परामर्श मंडल
योगेन्द्र यादव, स्मिता, कश्मीर उप्पल

अक्षर संयोजन : गौरीशंकर सिंह

कार्यालय
डी. 28/160 पांडेय हवेली,
वाराणसी-221001
फोन : 0800408523 (संपादन)
08765811730 (प्रबंध)
e-mail- varta3@gmail.com

सदस्यता शुल्क
वार्षिक शुल्क : 150/-
संस्थागत वार्षिक शुक्ल : 200/-
पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-
आजीवन शुल्क : 2000/-

इस अंक में

2	विवेक की पुकार
6	समान स्कूल प्रणाली : एक साहसिक फैसला केदार नाथ पाण्डेय
9	जल संसाधन योजना: बड़े बाँध और विकास रामास्वामी आर. अय्यर
13	भूजलीय पारिस्थितिकी के क्षेत्र में एक किंवदन्ती मेधा पाटकर
14	परंपरा से जुड़कर समाज से कटा समुदाय अतुल कुमार
16	भारतीय भाषाओं के साथ ही आगे बढ़ सकती है हिंदी सुयश सुप्रभ
19	हिंदू बनाम हिंदू राममनोहर लोहिया
26	बहुलता ही इस देश की ताकत है मंगलेश डबराल
28	साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाना-न लौटाना अलका सरावगी
30	पुरस्कार क्यों लौटा रही हूँ अरुंधति रॉय
31	सत्ता का प्रतिपक्ष बनाता है लेखक प्रियदर्शन
33	श्री शेखर पाठक का राष्ट्रपति को पत्र
35	लोकतंत्र, समाजवाद और कल्याणकारी राज्य महेश विक्रम
38	विषमता की चौड़ी होती खाई अरुण कुमार त्रिपाठी
47	पूँजीवाद के मूल आधार और जन आंदोलन फेलिक्स पाडेल
55	पुस्तक चर्चा : मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ संजय गौतम
57	नास्तिकवाद का सदाशय राजदूत : लवणम डॉ. रणजीत
60	संगठन/आन्दोलन समाचार
	श्रद्धांजलि : फाबियानुस तिरकी

सम्पादकीय

विवेक की पुकार

प्रश्न- साहित्यकार साहित्य अकादमी पुरस्कार क्यो लौटा रहे हैं?

उत्तर- कन्नड़ साहित्यकार एम.एम. कलबुर्गी की हत्या ने साहित्यकारों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि यदि असहिष्णुता इसी तरह बढ़ती रही तो सोचने-विचारने पर निषेधात्मक प्रभाव पड़ेगा। लेखक ने साहित्य अकादमी से शोक सभा करने एवं निंदा प्रस्ताव पारित करने की अपील किया। साहित्य अकादमी मौन रही। अंततः कुछ लेखकों ने पुरस्कार लौटाने का निर्णय किया। अब तो कई लेखकों ने पुरस्कार लौटा दिए हैं। कुछ ने पद्मश्री इत्यादि भी लौटा दिया है।

प्रश्न- कहा जा रहा है कि खास विचारधारा के यानी कम्युनिस्ट लेखक ही पुरस्कार लौटा रहे हैं।

उत्तर- यह बिल्कुल गलत है। लौटाने वालों में कई ऐसे लेखक हैं जो अपने लेखन में साम्यवादी विचारधारा का अनुसरण नहीं करते हैं। कई क्युनिस्ट लेखक भी पुरस्कार लौटाने की रणनीति से सहमत नहीं हैं, फिर भी असहिष्णुता की नीति का विरोध कर रहे हैं। वास्तव में सामाजिक असहिष्णुता हर विवेकशील- विचारवान नागरिक की चिंता का विषय होना चाहिए। लेखक भी इसी श्रेणी के संवेदनशील नागरिक हैं, इसलिए उनकी चिंता जायज है। वे विरोध में हैं, चाहे पुरस्कार लौटाएँ या न लौटाएँ।

प्रश्न- कुछ लेखकों ने इसका विरोध किया है। उनका यह भी कहना है कि यह राजनीति से प्रेरित है।

उत्तर- देखिए, राजनीति एक कॉमन शब्द है। इसका जीवन के हर क्षेत्र पर प्रभाव है। साहित्य भी राजनीति से अछूता नहीं रह सकता। समस्या यह है कि हमने राजनीति को सिर्फ सत्ता, सरकार और पार्टी तक सीमित कर दिया है। यदि साहित्यकार सिर्फ सत्ता और सरकार से जुड़ने के लिए कोई कर्म करता है तो उसे गैर साहित्यिक कर्म मानना चाहिए लेकिन यदि वह जीवन के बुनियादी मूल्य, मानवीय संवेदना, लोकतांत्रिक मूल्य, स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व को मजबूत करने के लिए कोई कर्म करता है तो इसे साहित्यकार का ही नहीं, बल्कि प्रत्येक बौद्धिक एवं सचेत नागरिक का अनिवार्य कर्तव्य मानना चाहिए।

प्रश्न-लेकिन कुछ साहित्यिक इस पक्ष में हैं कि साहित्यकारों को साहित्य के माध्यम से ही अपनी बात कहनी चाहिए।

उत्तर-साहित्य के अन्तर्गत आने वाली विधाएँ, कला, विधा एवं विचार के अनुशासन में बँधी होती हैं। उनकी भाषा अलग होती है। उसमें भी विचार सन्निहित रहता है, लेकिन उतना प्रकट नहीं होता है। आवश्यक नहीं कि उनमें विचार स्पष्ट और मुखर हो। उनमें संवेदना की प्रधानता होती है, लेकिन कई बार स्थितियों की तात्कालिकता को देखकर साहित्यिकों को भी लेख, निबंध या टिप्पणी के रूप में अपने विचार मुखर रूप में व्यक्त करना पड़ता है। एक नागरिक के कर्तव्य के रूप में इसमें कुछ गलत नहीं है। युगीन आवश्यकता के ही चलते स्वतंत्रता आंदोलन में साहित्यकारों ने हिस्सा लिया या फिर आपात काल का अपने-अपने तरीके से विरोध किया।

प्रश्न- अभी तो कहा जा रहा है कि अचानक क्यों साहित्यकारों की आत्मा जाग गई। ये लोग राष्ट्र विरोधी हैं।

उत्तर- साहित्यकारों की आत्मा हमेशा जगी रहती है। किसी भी सचेत साहित्कार की रचनाओं को पढ़ें और अनुभव करने की सामर्थ्य जुटाएँ तो इसका एहसास होगा। कभी-कभी मुखर भी होना पड़ता है, जैसा पहले बताया गया। हाँ राष्ट्रप्रेम के प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। इसे ठीक से तभी समझ सकते हैं, जब राष्ट्रहित को ठीक से समझते हैं। इधर राजनीति ने सरल सूत्र आक्रामक ढंग से निकाला है, जो सत्ता विशेष के समर्थन में नहीं है, वह राष्ट्र विरोधी है। सीधे शब्दों में कहें तो जो पाकिस्तान के साथ अच्छे सम्बन्धों की बातें करेगा, उसे पाकिस्तान समर्थक या देशद्रोही कहा जा रहा है। कुछ लोग तो ऐसे सभी बुद्धिजीवियों को पाकिस्तान जाने की सलाह दे रहे हैं।

प्रश्न-हाँ, उनका कहना है कि पाकिस्तान में हिंदुओं

के अत्याचार पर साहित्यिक क्यों चुप रहते हैं?

उत्तर–हाँ, यह एक जरूरी सवाल है। इसे गहराई से समझें। जब–जब भारत में सांप्रदायिकता या असहिष्णुता की बात होती है तो पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों का तुलनात्मक आँकड़ा पेश करके यह सिद्ध करते हैं कि वहां तो सरकार समुचित सुरक्षा नहीं दे रही है। प्रकारांतार से यह कि मानो हमने कोई गलती की है। हम यह क्यों भूल रहे हैं कि भारत और पाकिस्तान की बुनियाद में यही अंतर है। भारत ने विभाजन के कठिन दौर में भी धैर्य बनाए रखा और समावेशी दृष्टि अपनाई। जिन्ना के न चाहते हुए भी पाकिस्तान कट्टरपंथियों के हाथ में आ गया, क्योंकि विभाजन की बुनियाद वही थी। आज तुलना करना हो तो यह करें कि सिर्फ इस वजह से पाकिस्तान कहां है और हम कहाँ हैं। पाकिस्तान में घटित होनेवाली आतंकी घटनाएँ यह सिद्ध कर रही हैं, कि वह आत्मघाती रास्ते पर है। सोचने का विषय है कि वह इससे कैसे बाहर आ सकता है।

प्रश्न–पाकिस्तान में हिंदू उत्पीड़न का सवाल रह गया।

उत्तर–हाँ, इस सवाल को सिर्फ हिंदू उत्पीड़न के रूप में क्यों देखें। वहाँ सभी अल्पसंख्यकों के साथ ऐसा हो रहा है। हमें वहाँ की हर उस संस्था–व्यक्ति के समर्थन में अपनी आवाज उठानी चाहिए जो सहिष्णुता, लोकतंत्र के पक्ष में लड़ रहा है। हमें पाकिस्तान के वैचारिक आंदोलनों को मजबूत करना चाहिए और जनता से संवाद बनाना चाहिए। जनदबाव से ही सरकार, आई.एस.आई. कट्टरपंथियों का एजेंडा बदल सकता है। साफ कहें तो हमें पाकिस्तान के नकारात्मक तत्वों से कुछ सीखना है तो यही कि हम उनकी राह पर न चलें। भारत ने अपने लिए जो रास्ता बनाया था, उसे ही मजबूत करे। उसका प्रभाव पाकिस्तान और बांग्लादेश तक ले जाएँ।

प्रश्न–ऐसा क्यों कह रहे हैं?

उत्तर–ऐसा इसलिए कि भारतीय उपमहाद्वीप की सभ्यता की तासीर को समझना होगा। जो लोग असहिष्णुता और कट्टरता की नीति पर चलते हुए राजनीतिक सत्ता पाने एवं उसे स्थायी रूप से बनाए रखने की कामना कर रहे हैं, वे भूल कर रहे हैं। हिंदुस्तान के इतिहास को देखें तो साफ तौर पर यह जाहिर हो जाता है जो सत्ता उदार रही है, समावेशी रही है, जिसने जनता के प्रत्येक वर्ग के दुख–दर्द को समझा और उसे ईमानदारी से दूर करने का प्रयास किया, उसका विस्तार हुआ और जिस सत्ता ने कट्टरता फैलाते हुए वर्ग विशेष का पोषण किया, वह सिकुड़ती चली गई, बल्कि खत्म हो गई।

प्रश्न–लेकिन इन दिनों तो जनता के बड़े हिस्से में कट्टर भावना जन्म ले रही है, फैल रही है।

उत्तर– हाँ, यह चिंता का विषय है। ऐसा इसलिए हो रहा है कि हर तरफ केवल सत्ता की राजनीति का ही प्रभाव बना रहा है। पिछले वर्षों में राजनीति कर्मियों, समाज कर्मियों, साहित्य कर्मियों, बुद्धिजीवियों के बीच भी केवल सत्ता राजनीति से ही लड़ने, विरोध करने या उनका समर्थन करने का भाव बना रहा। शायद यह सोच प्रभावी हो गई कि केवल सत्ता परिवर्तन से ही समाज परिवर्तन संभव है। यह सोच सतही है। सत्ता भले न बदले, लेकिन व्यापक समाज को संबोधित करने का कर्म तेजी से करना होगा। विभिन्न रचनात्मक माध्यमों से देश की सभ्यता, संस्कृति, इतिहास के प्रति अपना दृष्टिकोण थोपने से ज्यादा जरूरी है विवेक पैदा करना। साहित्यिक संगठनों को भी अपनी नीति पर सोचना होगा। पार्टी पक्ष या समर्थन से आगे बढ़कर जनता तक अपनी बात पहुँचानी चाहिए, उन्हें अपना समर्थक बनाने के लिए नहीं, बल्कि विवेकशील बनाने के लिए।

प्रश्न–अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के जरिये कुछ लोग आस्था पर हमला करते हैं।

उत्तर– हाँ, यह एक गंभीर प्रश्न है। देखिए आस्था की कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती। मान लीजिए कोई महात्मा गाँधी को मानता है। एक दूसरा व्यक्ति है, गाँधी के विरुद्ध कोई लेख लिखता है। लेख भी दो स्तर का हो सकता है। गाली–गलौज भरा और विचारशील। अव्वल तो गाली–गलौज भरे लेख को कोई विवेकशील संपादक छापेगा नहीं। मान लीजिए वह लेख किसी भी माध्यम से सामने आ ही जाता है तो भी क्या उस व्यक्ति की हत्या को उचित कहा जा सकता है। आज उसे नज़रअंदाज भी कर सकते हैं, मन न माने तो गाली–गलौज भी कर सकते हैं, लेकिन हत्या करना तो किसी रूप में जायज नहीं है। और यदि विचारशील लेख है और उससे आपकी असहमति है तो वैसा ही विचारशील लेख लिखिए। यही संवाद की प्रक्रिया है। आस्था इतनी नाजुक क्यों रहे कि वह हमेशा डाँवाडोल रहे। हमेशा आक्रामक रहे। यदि विचार और साहित्य का जवाब हत्या होगा तो समाज विवेकहीन हो जाएगा। विचार का जवाब विचार से होना चाहिए, चाहे वह कितना भी विरोधी क्यों न

हो। सुकरात की हत्या जिस विचार के लिए हुई, उसे आज पूरी दुनिया में सही माना जाता है। तुलसीदास को आज हम महान मानते हैं हमारी श्रद्धा के पात्र हैं, लेकिन उस समय उन्हें कट्टरपंथियों का कितना दबाव सहना पड़ा। यदि हत्या की संस्कृति होती तो क्या आज हमारे बीच कबीर, तुलसी, रैदास, मीरा जैसे लोगों का साहित्य होता, क्या आज तमाम ऐसे वैज्ञानिक अनुसंधान होते, जिन्होंने हमारी कितनी रूढ़ियों को खत्म कर दिया। (चिकित्सा संबंधी अनुसंधान के कारण ही आज कई ऐसे रोगों का इलाज हो रहा है, जो पहले केवल आस्था के दायरे में आते थे)। विरोधी विचारों को सुनने, समझने एवं उसका तार्किक जवाब देने का सलीका समाज में बढ़ना चाहिए। किताबों, पुस्तकालयों को चलाने और विचारशील लोगों की हत्या करने वाले लोग या ऐसा माहौल बनाने वाले लोग कभी भी समाज को आगे नहीं ले जा सकते। हर सचेत नागरिक, बुद्धिजीवी अपने रचनाकर्म और व्यक्तित्व से विचारशीलता को मजबूत करेगा तो संकीर्ण विचार वाले लोगों को राजनीति में भी दीर्घकालिक सफलता नहीं मिलेगी।

–संजय गौतम

नजरिया

काले में दाल

अमित बाजपेयी

अरहर की आसमान छूती कीमतों पर अरबों रूपए का खेल हो गया. गुजरात के बड़े सिंडिकेट ने अफ्रीकी देशों से 40 – 50 रूपए किलो की अरहर देश में 170 –175 में बेचकर रातों रात चार गुना मुनाफा कमाया है। इन सिंडिकेटों के तार नामी गिरामी नेताओं से जुड़े हैं जिसके चलते जांच एजेंसियां इनपर हाथ नही रख पा रही हैं।

केन्या से आपरेट हो रहे हैं सिंडिकेट

सूत्रों के मुताबिक केन्या और तंजानिया में सक्रीय कई अप्रवासी भारतीय व्यापारियों ने मोजांबिक और मलावी जैसे गरीब देशों से बड़े पैमाने पर अरहर की दाल पिछले कुछ महीनों में भारत निर्यात की है। ये व्यापारी अफ्रीका देशों की सरकारों के साथ मिल कर अरबों रुपए की कमाई कर रहे हैं. छोटे छोटे देश निर्यात के लिए हर तरह की कानूनी छूट भी दे रहे हैं।

निर्यातक से बात

मोजांबिक और मलावी अफ्रीका के वो देश हैं जहाँ निर्यात के लिए अरहर और अन्य दालों का उत्पादन किया जा रहा है। इंडिया संवाद ने मोजांबिक में एक भारतीय निर्यात कम्पनी से दालों के रेट के बारे में बात की। फोन पर कम्पनी के एजेंट ने बताया की भारी मात्र में 'पिजन पी' यानी अरहर की दाल उनके पास स्टॉक में है और उनसे आयात करने के लिए उनके दुबई स्थित दफ्तर में हम आर्डर दे सकते हैं। एजेंट ने ये भी बताया की पिछले कुछ दिनों में मोजांबिक से दाल भारत निर्यात की गयी है। एजेंट ने कहा की उनकी कम्पनी etgworld का एक दफ्तर मुंबई में भी है और बाकी ट्रेडिंग की जानकारी वहां से ली जा सकती है।

सूत्रों के मुताबिक etgworld के ग्रुप सीओ जयेश पटेल दालों का आयात निर्यात भी देखते हैं। जानकारी के मुताबिक उनकी कम्पनी अफ्रीका की बड़ी एग्रो एक्सपोर्ट ग्रुप में एक है और भारत में उनका बड़ा नेटवर्क है। बिना साक्ष्य हम जयेश पटेल की etgworld को इस पूरे स्कैंडल में कसूरवार नही ठहरा सकते क्योंकि गुजरात के कई और एग्रो बेस्ड ग्रुप अफ्रीका से दालों का इम्पोर्ट कर रहे हैं।

मोजांबिक में अभी भी अरहर 50 से 55 रुपए किलो

बहरहाल ऐसी जानकारी मिल रही है कि मोजांबिक में अभी भी अरहर 50 रुपए किलो से कम है और निर्यात करने पर दाल का दाम 55 रुपए से ज्यादा नही होने चाहिए। सवाल ये है कि इतनी सस्ती दाल आखिर भारत में आयात करके इतनी महंगी क्यों बेची जा रही है। उधर गुजरात से मिली जानकारी के मुताबिक अडानी के मुद्रा बंदरगाह पर पिछले कुछ महीनो में विदेश से काफी सारे एग्रो प्रोडक्ट जिसमे दालें भी शामिल है आयात की गई हैं। ऐसा कहा जा रहा है की गुजरात के एक बड़े सिंडिकेट ने दाल का बड़ा कन्साइनमेंट भूमिगत कर रखा है और जब दाल का दाम 150 के ऊपर पहुंचा तो कन्साइनमेंट को बाजार में उतारा गया। एक तरह से ये सीधे सीधे चोरबाजारी है। लेकिन सिंडिकेट के सत्ता से तार जुड़े होने के कारण पुलिस इस सिंडिकेट को बेनकाब नही कर पा रही है। (साभार : इंडिया संवाद) ●

नजरिया

उर्जा-क्षय की नीति

अफलातून

भारत की लगभग एक चौथाई आबादी के पास रोशनी के लिए भी बिजली नहीं है। अमेरिका और विश्व व्यापार संगठन के लिए यह चिन्ता का विषय क्यों हो ? 2013 में अमेरिका ने विश्व व्यापार संगठन में शिकायत दर्ज कराई कि भारत द्वारा अपने सौर्य उर्जा कार्यक्रम (जवाहरलाल नेहरू सोलर मिशन, NSM) के लिए दिया जा रहा अनुदान विश्व व्यापार संगठन के व्यापार नियमों का उल्लंघन है। शिकायत में कहा गया था कि सौर्य उर्जा संग्रहण के लिए जिन पुर्जो की आवश्यकता होती है उसके विदेशी आपूर्तिकर्ताओं के खिलाफ भारत सरकार की नीति विभेदकारी है।

प्रधान मंत्री की हाल की अमेरिका यात्रा के ठीक पहले विश्व व्यापार संगठन के विवाद निपटारा समिति ने इस मामले में फैसला सुना दिया। सौर्य उर्जा संग्रहण में काम आने वाले पुर्जो को बनाने वाली भारतीय कम्पनियों को दी जाने वाली रियायत विश्व व्यापार नियमों का उल्लंघन है तथा रियायत बन्द न करने की स्थिति में भारत के खिलाफ व्यापार-प्रतिबन्ध की कार्रवाई की जाएगी।

दुनिया भर में समझदार देश जीवाश्म ईधन जला कर बिजली बनाना कम करने तथा सौर्य उर्जा जैसे नवीनीकृत किए जाने लायक स्रोतों से बिजली बनाने का परिमाण बढ़ाने की जुगत में लगे हैं। मोरोक्को जैसे सहार रेगिस्तान से जुड़े देश में सन 2020 कुल बिजली आवश्यकता की आधी नवीनीकृत किए जाने लायक स्रोत से पैदा होगी। इस प्रकार पैदा बिजली का कुछ हिस्सा वह योरप को निर्यात भी कर सकेगा। अमेरिका और जर्मनी जैसे औद्योगीकृत देशों की बात लें तो कुल बिजली जरूरत का अमेरिका 10 फीसदी नवीनीकृत स्रोत (कार्बन उत्सर्जन न करने वाले) से हासिल करता है जबकि जर्मनी अपनी जरूरत का 28 फीसदी इस प्रकार स्वच्छ बिजली से हासिल करता है। अमेरिका खुद नवीकरण योग्य बिजली बनाने में अनुदान और कर्ज-रियायतें देता है।गत वर्षो में अमेरिका ने सालाना 39 अरब डॉलर का अनुदान तथा 30% कर छूट नवीकरण के लायक बिजली उत्पादन के लिए दी है। भारत ने इस सन्दर्भ में विश्व व्यापार संगठन में प्रश्न जरूर उठाया है परंतु अमेरिका की तरह विवाद पंचायत में मामला दर्ज नहीं कराया है।

अमेरिका द्वारा भारत के नेहरू सौर्य उर्जा मिशन की बाबत उठाये गये विवाद की बारीकी में चला जाये। नेहरू सौर्य उर्जा मिशन के पहले चरण में सौर्य बैटरी तथा सौर्य मॉड्यूल बनाने वाली भारतीय कंपनियों को अनुदान मिल रहा था किन्तु इससे अमेरिका को दिक्कत नहीं थी क्योंकि अमेरिकी कम्पनियाँ इनका बहुत कम निर्यात करती हैं। अमेरिका की आंखों में किरकिरी नेहरू सौर्य मिशन के दूसरे चरण में शुरु हुई। दूसरे चरण में यह संभावना थी कि भारत अपने मिशन में घरेलू उत्पादों के हिस्से का दायरा बढ़ा देगा और अक्टूबर 2013 में जब मिशन का दूसरा चरण शुरु हुआ तब अमेरिका की आशंका सही साबित हुई। भारतीय बाजार में अमेरिकी पतली फिल्म का वर्चस्व था। इसलिए भारतीय कंपनियों को छूट दिए जाने से अमेरिका का नुकसान होने लगा।

भारत द्वारा अन्य देशों के साथ विभेदकारी बर्ताव किया जा रहा है अमेरिका का यह तर्क विश्व व्यापार संगठन ने मान लिया जव उसमें विस्मय की बात नहीं थी। कैनेडा द्वारा पर्यावरण के हक में तथा स्वदेशी सौर्य उर्जा को बढ़ावा देने के लिए बनाये गये एक कानून को युरोपीय संघ और जापान ने विश्व व्यापार संगठन में चुनौती दी थी। विश्व व्यापार संगठन ने इस कानून को विभेदकारी ठहराया था।

भारत सरकार के खिलाफ आया यह फतवा देश और दुनिया के पर्यावरण के हित में नहीं है। **इससे ज्यादा चिन्तनीय है किसी अन्य देश अथवा थानेदारी करने वाले विश्व व्यापार संगठन के अलावा भारत की घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय उर्जा दुर्नीति।** प्रधान मंत्री के विदेश दौरों में साथ रहने वाले उद्योगपति के धन्धे का प्रमुख क्षेत्र उर्जा उत्पादन का है।अडाणी समूह द्वारा राजस्थान सरकार के उपक्रम के साथ मिल कर 10,000 मेगावाट सौर्य बिजली बनाने की 65,000 करोड रुपये की योजना है।यह देश में नवीकरण योग्य उर्जा की सबसे बड़ी परियोजना है। आस्ट्रेलिया में 10 अरब डालर से प्रस्तावित कारमाइकल खनन योजना के बाद अडाणी समूह की यह दूसरे नम्बर की परियोजना है। इसकी सफलता इसमें लगने वाली पूंजी के जुगाड़ पर निर्भर है है। वित्तीय वर्ष 2013-14 के खत्म होते वक्त अडाणी समूह पर 71,979 करोड का कर्ज था। उद्योगपति की लगाई अपनी पूंजी से कर्ज

का अनुपात 2.92 (लगभग तीन गुना) था।ऐसी परियोजनाओं में आम तौर पर 70 फीसदी हिस्सा कर्ज का होता है।

अमेरिका की शिकायत पर भारत के खिलाफ विश्व व्यापार संगठन का यह फैसला अगस्त 2015 में आया है। जनवरी 2015 अडाणी समूह ने 'सन एरिकसन' नामक अमेरिकी कम्पनी के साथ मिल कर भारत का सबसे बड़ा सौर्य पैनल बनाने का कारखाना बैठाने का निर्णय ले लिया था। उस वक्त गौतम अडाणी ने घोषणा की थी भारत नवीकरणीय उर्जा में दुनिया का नेतृत्व करेगा। भारत सरकार द्वारा देश के विरुद्ध दिए गए निर्णय का विरोध न करने की क्या यही प्रमुख वजह नहीं हो सकती है?

उर्जा के क्षेत्र में भारतीय पूंजीपतियों द्वारा छोटे मुल्कों में पांव पसारने में सरकार की मदद की भूमिका पर गौर करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। उदारीकरण के 23 साल बीत जाने के बाद भी बजट का सबसे बड़ा मद कर्ज चुकाने में जाता है। इसके **बावजूद प्रधान मंत्री विदेश यात्राओं के क्रम में जब** मंगोलिया को एक अरब डालर अथवा बांग्लादेश को दो अरब डालर का कर्ज देना घोषित करते हैं। देश के नागरिकों को क्या इसका फक्र करना चाहिए? इस बात को भी हमें नजरअंदाज नहीं करना चाहिए कि मंगोलिया में नवीकरण योग्य बिजली में अडाणी तथा बांग्लादेश में विद्युत निर्माण में अम्बानी-अडाणी की परियोजनायें चलने वाली हैं।

समान स्कूल प्रणाली : एक साहसिक फैसला

केदार नाथ पाण्डेय

माननीय न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल, इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा 18 अगस्त 2015 को उत्तर प्रदेश की शिक्षा व्यवस्था पर दिये गये फैसले से 'समान स्कूल प्रणाली की पड़ोस पद्धति शिक्षा व्यवस्था' एक बार फिर मजबूती से विमर्श के केन्द्र में आ गई है। देश के शिक्षाविदों, बुद्धिजीवियों और शिक्षक संगठनों ने इसे लागू करने की माँग तेज कर दी है। दरअसल समान स्कूल प्रणाली की पड़ोस पद्धति वाली शिक्षा व्यवस्था कोई काल्पनिक प्रश्न नहीं है। यह समानता के सिद्धान्त पर आधारित नागरिकों का एक सुचिन्तित संवैधानिक अधिकार है जिसे खारिज नहीं किया जा सकता। डॉ0 राम मनोहर लोहिया जब सबके लिए समान शिक्षा की वकालत कर रहे थे तो उनका नारा था- ''राष्ट्रपति का बेटा हो या चपरासी की सन्तान, शिक्षा सबकी एक समान''। इस नारे से उनका आशय था कि कश्मीर से कन्या कुमारी तक फैले इस विविधतापूर्ण, विविध भाषाई, बहुधर्मी विशाल देश में सभी बच्चों को समान रूप से गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। शिक्षा के मामले में उनके बीच कोई भेदभाव या गैर बराबरी कायम नहीं की जानी चाहिए।

स्वातंत्र्योत्तर काल में जब भारत की सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था पर सांगोपांग विचार करने के लिए सन् 1964 में डॉ0 डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन हुआ जिसमें देश-विदेश के विद्वान शामिल थे, तो उसने काफी सुचिन्तित तरीके से विमर्श कर 1966 में जो रिपोर्ट सौंपी उसका नाम रखा "Education for National Development" यानि राष्ट्रीय विकास के लिए शिक्षा। आयोग का मानना था कि शिक्षा की समुचित व्यवस्था के बगैर राष्ट्रीय विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। 1968 में देश की संसद ने उसी प्रतिवेदन पर एक राष्ट्रीय शिक्षा की नीति स्वीकृत की। जिसमें शिक्षा संरचना, शिक्षक, शिक्षा के माध्यम की भाषा और राष्ट्रीय विकास के लिए सारे मुद्दे समाहित थे। 10+2+3 की शिक्षा संरचना उसी नीति की देन है। आयोग ने विश्व के विकसित देशों की शिक्षा प्रणालियों के अध्ययन के आधार पर सुझाया कि भारत में समान स्कूल प्रणाली की शिक्षा लागू की जानी चाहिए जो पड़ोस पद्धति पर आधारित हो। यानि एक विद्यालय को केन्द्र मानकर उसकी निर्धारित परिधि के सारे नागरिकों को चाहे मंत्री, सांसद, विधायक, उच्चाधिकारी अथवा किसान, मजदूर हों उनके बच्चों के लिए उसी स्कूल में शिक्षा की बाध्यकारी व्यवस्था होनी चाहिए। आयोग का मत था कि इस व्यवस्था से संविधान प्रदत्त समानता का अधिकार तो कायम होगा ही, नागरिकों के बीच जाति, धर्म, लिंग का भेदभाव भी अंकुरित नहीं होगा जो एक स्वस्थ और दीर्घकालिक लोकतंत्र के लिए आवश्यक शर्त है। चूँकि सभी वर्गों के बच्चे अपने पड़ोस के विद्यालय में अध्ययन करेंगे इसलिए मंत्री, सांसद, विधायक, उच्चाधिकारी, स्थानीय निकायों के प्रतिनिधि, किसान, मजदूर सभी लोगों का ध्यान भी उस विद्यालय पर होगा। उसकी

आधारभूत संरचना तथा शिक्षक सभी विचार दृष्टि के केन्द्र में होंगे। शिक्षक भी योग्य, कुशल एवं सम्मानजनक वेतन प्राप्त करने वाले होंगे। आपसी समन्वय से जो राष्ट्र बनेगा उसका आपसी स्वभाव भी ठीक होगा। आयोग की यह अनुशंसा अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस, इटली आदि जी आठ के देशों में पहले से सफलतापूर्वक संचालित शिक्षा प्रणाली पर आधारित थी। उन देशों में आज भी यह शिक्षा प्रणाली सफलतापूर्वक चल रही है।

आयोग का सुझाव था कि कानून सम्मत तरीके से इस व्यवस्था को लागू किया जाना चाहिए और शिक्षा को सामाजिक आर्थिक रूपान्तरण का हथियार मानते हुए देश के बजट का छः फीसदी शिक्षा पर खर्च किया जाना चाहिए। जिसे 1980 के बाद बढ़ती आबादी के हिसाब से और बढ़ाया जाना चाहिए। दुर्योग से कोठारी आयोग की इन दो महत्वपूर्ण अनुशंसाओं को राजनैतिक इच्छा शक्ति की कमी से लागू नहीं किया गया। देश के सारे नागरिकों को अपने बच्चों के लिए स्कूल चुनने की आजादी प्रदान कर दी गई। फिर 1986 में जब राजीव गाँधी ने पुनः राष्ट्रीय शिक्षा की नयी नीति बनायी तो उसमें भी स्वीकार किया गया कि गलतियाँ हुई हैं और उन्हें सुधारा जाना चाहिए और इस प्रकार नयी शिक्षा नीति में भी समान स्कूल प्रणाली को पड़ोस पद्धति शिक्षा व्यवस्था और जी.डी.पी. का छः प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करने की स्वीकारोक्ति की गई। लेकिन हुआ उल्टा, समान स्कूल की बजाय ग्रामीण क्षेत्रों में दून टाइप नवोदय विद्यालय स्थापित कर फिर एक बार समानता के संवैधानिक अधिकार को खत्म कर दिया गया। शिक्षा की बहुपरती व्यवस्था अविच्छिन्न रूप से जारी रही बल्कि और बढ़ा दी गई। शिक्षा पर जी.डी.पी. का खर्च नेहरू युग की तुलना में और घटा दिया गया। इसीलिए वी.पी.सिंह की सरकार ने जब नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा के लिए आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति गठित किया तो समिति का साफ-साफ मानना था कि देश में शिक्षा के दो पिरामिड बन गये हैं- अमीरों के लिए अलग और गरीबों के लिए अलग। विडम्बना है कि 69 साल की आजादी के बाद भी स्थिति जस की तस है बल्कि और बिगड़ती चली गई है। वैश्विक पूँजी के हमले के बाद तो इसे रोकने या सुधारने की कवायद दिखाई भी नहीं पड़ती।

माननीय उच्चतम न्यायालय के 93 के उन्नीकृष्णन न्याय निर्णय के बाद संविधान में संशोधन कर और अनुच्छेद 21 (क) जोड़कर छः से चौदह वर्ष तक के बच्चों के लिए शिक्षा का निःशुल्क एवं अनिवार्य अधिकार लागू अवश्य कर दिया गया है लेकिन वह एक छलावा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। पूर्व में संविधान के अनुच्छेद 45 में वर्णित 0-14 वर्ष के बच्चों में से 0-5 वर्ष के लगभग 17 करोड़ बच्चों के दायित्व से सरकार मुक्त हो गई है। इसीलिए न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल ने उत्तर प्रदेश के बहाने पूरे देश की शिक्षा व्यवस्था की जो तस्वीर सामने रखी है वह निहायत गन्दी और अफसोसनाक है। न्याय निर्णय के अनुच्छेद 80-90 के अन्तर्गत उन्हों ने सम्पूर्ण स्थितियों का वास्तविक चित्र सामने रखा है और सरकार को कदम उठाने का निर्देश दिया है। उन्होंने उत्तर प्रदेश के 90 प्रतिशत बच्चों के स्कूलों की कामन मैन स्कूल की संज्ञा दी है। जहाँ न तो आधारभूत संरचनाएँ हैं, न शौचालय, न पीने के पानी की व्यवस्था और न ही गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने वाले सुयोग्य, प्रशिक्षित और पर्याप्त शिक्षक। ये सभी स्कूल वहाँ की सरकार, बोर्ड द्वारा संचालित हैं। ये पहली कोटि के विद्यालय हैं। उन्होंने दूसरी कोटि में उच्च सुविधा प्राप्त वर्ग के बच्चों के स्कूलों को रखा है और उन्हें अभिजात्य स्कूल (Elite School) की संज्ञा दी है। जहाँ उत्तम आधारभूत संरचना, शौचालय, पानी की व्यवस्था, अच्छे पुस्तकालय, ए. सी. बसें, ए.सी. कमरे आदि सब कुछ हैं। इन्हीं विद्यालयों में देश के मंत्रियों, सांसदों, विधायकों, उच्च नौकरशाहों और समृद्ध वर्ग के बच्चे पढ़ते हैं। उन्हें सुयोग्य, कुशल, अच्छे वेतनधारी शिक्षक नसीब हैं। तीसरी कोटि में वैसे विद्यालयों की चर्चा की है जो अर्ध अभिजात्य (Semi Elite) स्कूल हैं जो (Elite) से नीचे और 'कॉमन मैन' स्कूल से थोड़ा ऊपर हैं। यहाँ मध्यवर्गीय, अर्द्ध-समृद्ध वर्ग, निचले स्तर के नौकरशाहों के बच्चे पढ़ते हैं। यहाँ कॉमन मैन स्कूल से सुविधाएँ थोड़ी बेहतर हैं। आगे के अनुच्छेदों में शिक्षा की नंगी सच्चाई वर्णित है कि कामन मैन स्कूलों में शिक्षकों की नियुक्तियाँ सिर्फ और सिर्फ अपने मतदाताओं को रिझाने, फुसलाने तथा राजनैतिक लाभ के लिए की जाती हैं। इनका उद्देश्य देश के बच्चों की उचित शिक्षा की व्यवस्था करना नहीं है। देश के समृद्ध वर्ग, शासक वर्ग यहाँ तक की नौकरशाही और नागरिकों का भी ध्यान इन स्कूलों की ओर नहीं जाता है और न ही कोई इनकी सुविधा, आधारभूत संरचना, शिक्षक की ओर दृष्टि डालता है। ये उपेक्षित और त्याज्य हैं।

इसी प्रसंग में न्यायमूर्ति अग्रवाल मे न्यायमूर्ति अग्रवाल ने न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर को याद किया है जिन्होंने देश की शिक्षा व्यवस्था पर तल्ख टिप्पणी की थी और इसे सुधारना केन्द्र तथा राज्य सरकारों का दायित्व बताया था। माननीय

न्यायमूर्ति ने निर्देश दिया है कि जो लोग सरकारी खजाने से वेतन प्राप्त करते हैं, चाहे माननीय मंत्री हों, सांसद, विधायक, जिलाधिकारी, पुलिस अधीक्षक अथवा नौकरशाही के अंग हों अपने बच्चों को पड़ोस के सरकारी विद्यालय में ही पढ़ावें ताकि उन बच्चों में समुदाय की भावना का विकास हो सके। उनके बीच सामाजिक वैषम्य की खाई पाटी जा सके और सामाजिक भेदभाव और बँटवारा न हो। उनका कहना है कि इस व्यवस्था से इन स्कूलों पर सबका ध्यान केन्द्रित होगा। वे उपेक्षित, अमर्यादित और दोयम दर्जे के नहीं समझें जायेंगे और एतदर्थ उत्तर प्रदेश की सरकार को कानून बनाना चाहिए। न्याय निर्णय में यह भी दर्ज है कि यदि समाज का यह वर्ग अपने बच्चों को उन स्कूलों में नहीं पढ़ावे तो उनके वेतन से उतनी राशि काटकर जितनी वे अभिजात्य (Elite) स्कूलों में अपने बच्चों पर खर्च करते हैं, उन स्कूलों की व्यवस्था, निर्माण पर खर्च किया जाय। उन्होंने उत्तर प्रदेश के मुख्य सचिव को की गई कार्रवाई की रिपोर्ट छ: माह में शपथ पत्र के माध्यम से समर्पित करने का निर्देश दिया है।

बिहार में भी नीतीश कुमार के नेतृत्व में 2006 में राजग की सरकार ने श्री मुचकुन्द दूबे की अध्यक्षता में राज्य स्तर पर समान स्कूल प्रणाली आयोग गठित किया था। इसका बीज कोठारी आयोग की उसी अनुशंसा में निहित था जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। आयोग ने निर्धारित समय सीमा में बिहार की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था, भावी दशा-दिशा का सम्यक् विश्लेषण करते हुए जून 2007 में अपनी रिपोर्ट सौंप दी थी। उसने बिहार में समान स्कूल प्रणाली की पड़ोस पद्धति शिक्षा स्थापित करने हेतु एक रोड मैप और वित्तीय आकलन भी प्रस्तुत किया था। जिसमें पाँच वर्षों में कुल साढ़े सत्रह हजार करोड़ का बजट आकलित था। लेकिन जिस उत्साह से सरकार ने आयोग गठित किया था और शिक्षा सुधार का दावा पेश किया था उसी उत्साह से उसने आयोग की रिपोर्ट को आलमारियों में बन्द भी कर दिया। कई बार मेरे द्वारा विधान परिषद् में प्रश्न उठाये जाने के बावजूद रिपोर्ट विधान मण्डल के पटल पर भी नहीं रखी जा सकी और न ही उसकी स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक समझा गया।

कोठारी आयोग की अनुशंसा अथवा मुचकुन्द दूबे आयोग की अनुशंसाएँ स्वतंत्र भारत अथवा बिहार में क्यों नहीं लागू हुई इसके उत्तर के लिए पिछली सदी के पचासोत्तरी काल में जाना पड़ेगा। उस समय आजाद भारत में एक नया माहौल पैदा हुआ था। जिसकी व्याख्या तत्कालीन कवि, कलाकार, रचनाकार, राजनीतिज्ञ अपने-अपने तरीके से कर रहे थे। उनके पास आजादी से उत्पन्न सामाजिक विकास को समझने की एक वैज्ञानिक विश्व दृष्टि थी, लेकिन उनमें गहरे मतभेद थे। बावजूद इस बात पर वे एकमत थे कि यह वो आजादी नहीं है जिसकी वो कल्पना कर रहे थे।

उल्लेखनीय है कि संविधान सभा में शिक्षा पर चली बहस में जब बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर ने चौदह वर्ष की आयु तक के सभी बालक-बालिकाओं की अनिवार्य और नि:शुल्क शिक्षा की वकालत की तो लम्बे विमर्श और मशक्कत के बाद भी इसे मौलिक अधिकारों के खण्ड तीन में शामिल नहीं किया जा सका। शिक्षा नीति निर्देशक तत्वों के खण्ड चार अनुच्छेद 45 में समाहित की गयी। उसके लिए दस वर्षों का अतिरिक्त समय तय किया गया। कुछ लोग तो बाबा साहब पर यह दबाव भी डाल रहे थे कि देश गरीब है इसलिए चौदह वर्ष की उम्र घटाकर कम की जानी चाहिए। अम्बेडकर चूँकि सामाजिक उत्पीड़न विषमता के भोक्ता थे इसलिए वे इसे घटाने पर सहमत नहीं हुए और शिक्षा कम से कम नीति निर्देशक तत्वों वाले खण्ड में जगह पा सकी।

आजादी के बाद तो धीरे-धीरे यह साफ ही हो गया कि देश का रास्ता किधर से होकर जा रहा है? सत्ता मिलते ही कांग्रेस सुख भोग की राजनीति में ढल गई और नये सत्ताधारी वर्ग ने जो रास्ता चुना वह 'महाजनों येन गत: स पन्था:' न होकर महाजनी सभ्यता का रास्ता बन गया। पूँजीवादी समाज के निर्माण की कोशिशों से भारतीय समाज के भीतर पूँजीवादी चेतना का विकास तेजी से हुआ। पुराने नैतिक मूल्य ध्वस्त होने लगे और उच्च वर्ग के साथ मध्यवर्ग ने भी धनवान होने तथा अपने और अपने परिवार में केन्द्रित होने के सारे हथकंडे अपना लिए। 90 के बाद आये भूमण्डलीकरण के प्रभाव ने इसे और मजबूत दिशा दी। फलत: अमरीका, कनाडा, ब्रिटेन, फ्रांस आदि पूँजीवादी देशों में अपनायी गयी समान शिक्षा प्रणाली यहाँ लागू नहीं हो पायी। मध्यवर्ग को लाली पॉप जरूर दिखाया गया कि यही बेहतर प्रणाली है लेकिन उसकी धार को कुंद करने के लिए केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय सामने ला दिये गये। उन्नीकृष्णन न्याय निर्णय को भी 'डाइल्यूट' कर दिया गया। ऐसे में इलाहाबाद का न्याय निर्णय कितना कारगर होगा, यह एक विचारणीय प्रश्न है? लेकिन राष्ट्रीय विकास की दिशा में इस प्रणाली की महती भूमिका को खारिज नहीं किया जा सकता? इस दौर में भी न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल के फैसले को साहसिक और ऐतिहासिक मानना ही होगा।

सदस्य, बिहार विधान परिषद्

जल संसाधन योजना: बड़े बाँध और विकास

रामास्वामी आर. अय्यर

1985–87 में भारत के जल संसाधन सचिव के रूप में मैं राष्ट्रीय जल संसाधन नीति को प्रारम्भ करने के लिए उत्तरदायी था। मुझे पता चला कि जल संसाधन नीति जैसी कोई चीज़ मौजूद ही नहीं थी। बड़ी परियोजनाओं पर ही पूरा ध्यान लगा हुआ था। जल संसाधन मंत्रालय इंजीनियरों के प्रभुत्व में था। जल संसाधन योजना का अर्थ उस समय केवल सिविल इंजीनियरिंग था। ब्रिटिश काल के पहले जल संसाधन सामुदायिक रूप से प्रबन्धित एक स्थानीय विषय था। ब्रिटिश काल में आधुनिकता के प्रारम्भ के साथ प्राकृतिक संसाधन समुदायों के पास से राज्य के हाथ में हस्तान्तरित होते गए और उनका प्रबन्धन समुदायों के हाथ से निकलकर तकनीकी विशेषज्ञों, इंजीनियरों, प्रशासनिक अधिकारियों और नेताओं के हाथ में जाता रहा। पश्चिमी ढंग की इंजीनियरिंग के प्रयोग लिए तमिलनाडु और कर्नाटक में प्रचलित कुण्डों और नहरों तथा राजस्थान के गहरे सीढ़ीदार कुओं की पारम्परिक प्रणाली के बजाय बड़े बाँधों का निर्माण पसंदीदा रहा। अत: उनका उपयोग या रखरखाव छूटता गया। वे खस्ताहाल होते गए और उनमें से अब शायद ही कोई इस्तमाल में बचे हों।

हकीकत यह है कि इन बड़े प्रौद्योगिकी आधारित, इंजीनियरिंग के वर्चस्व एवं ऊपर से निर्धारित होने वाले, जन सहभागिता विहीन उपक्रमों को हम अब विकास का प्रतीक मान चुके हैं। आप को बड़े बाँधों के सम्बन्ध में नेहरू का वह प्रसिद्ध कथन कि 'वह आधुनिक भारत के मन्दिर हैं' याद होगा। यह केवल उनका विचार नहीं था, यह उस काल में प्रचलित प्रधान विचार था। परन्तु वर्ष बीतने के साथ अनेक कारणों से निराशाएँ बढ़ती गई हैं।

अब उनकी प्रतिष्ठा समाप्त होने पर है। इसके अनेक कारण हैं– उन्हें वित्तीय, आर्थिक और उन्हें संसाधनों का दोहन करने वाले तथा अत्यधिक धन एवं समय की बर्बादी करने वाले उपक्रमों के रूप में देखा जाने लगा है। इनको लेकर इंजीनियरों, नौकरशाहों और ठेकेदारों के बीच संधि बनी रहती है परन्तु इनसे प्रभावित होने वाली जनता से कोई परामर्श की आवश्यकता नहीं समझी जाती। इस प्रक्रिया में जनता को और भी कठिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है और अन्तत: आप को पता चलता है कि उन्हें वह सब लाभ भी नहीं मिलते जिनका प्रचार किया गया था। इसका यह औचित्य बताया जाना कि इससे समाज का व्यापक हित जुड़ा है अक्सर धोखा साबित हुआ है। इस प्रकार इसके लिए दिए गए मूल्य का औचित्य हवा हो जाता है। यही कारण है कि इन परियोजनाओं के विरुद्ध अनेक आन्दोलन उठ खड़े हुए हैं। आप जानते हैं इनमें से एक नर्मदा बचाओ आन्दोलन ने सरदार सरोवर बाँध को रोक रखा है। सुन्दर लाल बहुगुणा के नेतृत्व में एक आन्दोलन टिहरी में जल–विद्युत परियोजना के विरोध में खड़ा है। यह दोनों ही परियोजनाएँ सर्वोच्च न्यायालय में जनहित परिवाद का विषय बनी हुई हैं।

बड़ी जल परियोजनाओं के विरुद्ध इनसे कुछ कम मजबूत परन्तु इसी प्रकार का एक आन्दोलन नेपाल में भी चल रहा है। नेपाल के बारे में यह सर्वाधिक प्रचलित विचार है कि जैसे मध्य एशिया के लिए तेल का महत्व है वैसे ही नेपाल के लिए पानी का। वहां पंचेश्वर आदि वृहद् जल परियोजनाओं की श्रृखंलाओं पर काम हो रहा है। भारत में भी उन परियोजनाओं के पूर्ण होने पर उससे लाभस्वरूप बिजली आयातित करने का इन्तज़ार हो रहा है। परन्तु विश्व बैंक जो सरदार सरोवर के मामले में अपने हाथ जला चुका था उसे नेपाल की अरुण–3 परियोजना में कहीं अधिक हाथ जलाना पड़ा और अब उसने नेपाल से अपने हाथ खींच लिए हैं। पाकिस्तान में कालाबाग परियोजना का विरोध चल रहा है। श्रीलंका में भी बहुप्रचारित महावेली परियोजना पर प्रश्न उठाते हुए हमें कई लोग मिल जाएंगे। इस प्रकार का वातावरण इस समय सभी जगह बना दिख रहा है।

मैं इन परियोजनाओं से पैदा होने वाली उन सभी कठिनाइयों का ब्यौरा देने नहीं जा रहा– जैसे कृषि भूमि एवं वनों का नुकसान तथा वन्य जीवन का प्रभावित होना। जीव–जन्तुओं का गम्भीर रूप से प्रभावित होना। जैव–विविधता का नष्ट होना। प्रकृति एवं लोगों, अधिकांशत: जनजातीय समुदायों का हिंसक रूप से प्रभावित

होना आदि। इन बड़ी परियोजनाओं के जलागम क्षेत्र (कैचमेण्ट एरिया) का लगातार क्षय होता चलता है। बालू या गाद जमा होने (सिल्टेशन) की गति अपेक्षा से कहीं अधिक होने के कारण परियोजना की जीवनावधि कम होती जाती है। चूँकि पानी उपलब्ध हो जाता है अत: लोग जलागम क्षेत्र के निकट ही उसका इतना उपयोग करने लगते हैं कि भले ही लम्बी नहर का जाल बनाया गया हो उसके अन्तिम छोर तक पानी बमुश्किल ही पहुँच पाता है।

लगातार 5 से 10 वर्षो तक इस प्रकार की सिंचाई के चलते भूमि की सतह पर जल की मात्रा अधिक जमा हो जाने से उसका क्षारीकरण शुरू हो जाता है। एक के बाद एक हरएक परियोजना के बाद यह अनुभव किया जाता रहा है कि इससे अच्छी उपजाऊ भूमि भी बेकार होने लगती है। यहां तक कि जलागम क्षेत्र के ऊपर के क्षेत्र के लोगों को दिखाया गया स्वप्न कि इससे उन्हें विशेष लाभ होगा एक गलत गणित ही साबित होता है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे, क्योंकि इसका जो कुछ लाभ होता भी है वह भी सम्पन्न किसानों की ही झोली में चला जाता है, कमजोर किसानों के हिस्से में वह कम ही पहुँचता है।

अत: इससे अनेक प्रकार की सामाजिक और पर्यावरणीय समस्याएं जुड़ी हैं। उदाहरण के लिए, यहां तक कि पोंग बाँध से विस्थापित लोग भी ठीक तरह से पुनर्वासित नहीं किए जा सके। टिहरी में आप देखेंगे कि 15 वर्षो पूर्व प्रारम्भ हुए विस्थापन से प्रभावित लोग आज तक ठीक से पुनर्वासित नहीं किए जा सके हैं और हमारे शोध के मुताबिक वह आज भी कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सरदार सरोवर परियोजना से सम्बन्धित नर्मदा पुनर्वास नीति इस लिहाज से पर्याप्त जागरूकता से बनाई गई बतायी जाती है और एक सीमा तक यह माना भी जा सकता है। परन्तु आप पायेंगे, जमीनी हकीकत यह है कि भूमि की पुनर्व्यस्थापन के लिए भूमि उपलब्ध ही नहीं है। सभी के एक साथ एक स्थान पर पुनर्वासित करने का वादा किया गया था जो व्यवहारत: संभव नहीं हुआ। अधिकांशत: ऐसे कुछ विस्थापित परिवारों को यहां वहां और दूर दराज के अपरिचित पुनर्वास क्षेत्रों में रख दिया गया है जहां के स्थानीय समुदायों से उनके सम्बन्ध असहज होने स्वाभाविक हैं।

राजस्थान नहर परियोजना के सम्बन्ध में हमें पता चला कि वहां उसके बारे में यह धारणा बनी हुई थी कि उससे मरुस्थलीय क्षेत्र को सिंचित कृषि-क्षेत्र में बदल दिया जाएगा। इसी भ्रम में हम एक घुमंतू जनजाति को स्थिर कृषकों में बदलने के लिए भी कह रहे थे। परन्तु ऐसा कुछ नहीं होना था। बल्कि आप किसी अन्य स्थान से किसी समुदाय को वहां लाकर सामाजिक तनाव ही पैदा करते हैं।

उपर्युक्त सभी मसलों के उत्तर निम्नवत् दिए जाते रहे हैं-

पहले, हम इन सबका अध्ययन कर सकते हैं। यह धारणा है कि सभी प्रकार के प्रभावों का आँकलन हम पर्यावरणीय प्रभाव आँकलन (एनवॉयरमेण्टल इम्पैक्ट असेसमेंट-ईआईए) के माध्यम से कर सकते हैं।

दूसरे, ईआईए के पश्चात हम परियोजना की सम्पूर्ण लागत का पता लगा सकते हैं और परियोजना के बारे में निर्णय लेने के लिए उस पर कम से कम लागत का आँकलन कर सकते हैं।

तीसरे, जो भी प्रतिकूल प्रभाव अनुमानित हों, जो भी कुछ नुकसान होना हो, हम उनका समाधान उन्हें कमतर आँककर, आवश्यक भरपायी करते रह कर तथा आवश्यकतानुसार सुधारते रहकर करते रह सकते हैं।

यही वह सब तर्क हैं जो किसी परियोजना का औचित्य सिद्ध करने के लिए दिए जाते हैं।

इसके साथ समस्या क्या है ?

इन परियोजनाओं के सभी प्रभावों का पूर्वानुमान करना अत्यन्त कठिन है। जैसा कि एक के बाद एक हर परियोजना के बाद यह उद्घाटित होता गया है कि अनेक बातें अनदेखी रहती रही हैं। यहां तक कि सरदार सरोवर परियोजना में भी जो सर्वाधिक गम्भीरता से अध्ययन की गई परियोजना मानी जाती है उनमें अनेक कमियाँ उजागर होती गई। जब बाँध बनता जायेगा तो नीचे धारा के निकट रहने वाले लोगों और मछुआरों की स्थिति क्या होगी, वह क्या करेंगे इसके बारे में कुछ नहीं सोचा गया।

कुछ परिणाम तो सही मायने में उपचारविहीन हैं। जब आप पानी का प्रवाह रोकते हैं तो उससे आप पूरी जैविकीय संरचना (मौर्फोलॉजी) बदलने का काम करते हैं। पानी जहर बन जाता है। जलीय जीवन समाप्त होने लगता है। आप कह सकते हैं कि आप दूसरे प्रकार की मछलियाँ पैदा करेंगे। परन्तु उससे प्राकृतिक निवास की मूल स्थितियों और आबादी को हुयी क्षति की पूर्ति होनी संभव नहीं है। एक बार आप नदी को

बाँध देगें जो फिर आप उसकी जैविकीय संरचना (मौर्फोलॉजी) बदलने से नहीं रोक सकते।

अगर आप कहें कि यहां एक जंगल को डुबोएंगे और दूसरी जगह जंगल पैदा करेंगे, तब भी इससे पारिस्थितिकीय प्रणाली (इकॉलॉजिकल सिस्टम) को हो चुके नुकसान की भरपायी नहीं की जा सकती। आप किसी भी प्रकार इसकी क्षतिपूर्ति नहीं कर सकते। सामान्यत: नए वनों का निर्माण उसी पारिस्थितिकीय क्षेत्र में न होकर अन्यत्र ही होता है। अवश्य ही नए पारिस्थितिकीय क्षेत्र में भी नए वनों को उगाया जा सकता है परन्तु जिस पारिस्थितिकीय प्रणाली को हानि पहुँचायी जा चुकी होती है उसको तो दुरुस्त नहीं ही किया जा सकता।

जो भी सामाजिक बन्दोबस्त होना है वह तो सरकारी तंत्र के माध्यम से ही होना होता है। जब लोग असंतुष्ट होते हैं और आन्दोलन करते हैं तो राज्य शक्ति का उपयोग करता है क्योंकि वह उसी के प्रयोग से परिचित है। अनेक मसले एक साथ सुलझाने संभव भी नहीं होते। यही कारण है कि एक रिपोर्ट में यहां तक कह दिया गया कि पुनर्वास असंभव है जो कदाचित प्रश्नोचित है। यह एक अतिरेकपूर्ण विचार हो सकता है (ऐसी समितियों का जिसका मैं स्वयं भी एक सदस्य हुआ करता था) परन्तु नर्मदा और टिहरी के मामलों में हमने पाया कि पुनर्निधारण और पुनर्वास एक अत्यन्त दुरूह विषय था, विशेष रूप से जहां जनसंख्या अधिक थी।

दुर्भाग्य यह है कि संपूर्ण वर्तमान नीतिगत खांचा बड़ी परियोजनाओं के ही पक्ष में है। इसके लिए हम दोहरे विचारों पर आधारित तर्कयुग्म के अनुसार निष्कर्ष निकालते रहे हैं।

इंजीनियरिंग का तर्कयुग्म यह है कि जल विभिन्न क्षेत्रों और समय पर समान रूप से वितरित या उपलब्ध नहीं होता। हम सभी समय और सभी क्षेत्रों में साल के 365 दिन बारिश की उम्मीद नहीं कर सकते और कुछ क्षेत्रों में वर्षा कुछ महीनों या कुछ हफ्तों के लिए ही आती है। आप जल को वर्षाप्रबल समय से सूखे समय में समयान्तरित और जलमग्न क्षेत्र से सूखे क्षेत्र में स्थानान्तरित कैसे करेंगे ?दूसरा विचार यह है कि विज्ञान और तकनीकि जल के सदुपयोग में मदद करती है। जो जल समुद्र तक चला जाता है वह वस्तुत: बेकार ही तो होता है।

निष्कर्षत: जल को बहने से रोका जाए और इसे समय और स्थान की आवश्यकतानुसार अन्यत्र भेजा जाए।

आर्थिक एवं विकासवादी तर्कयुग्म सभ्यता की इस परिभाषा पर आधारित है कि वह प्रगुणित होती माँग या आवश्यकता से जुड़ी है। माँग पूरी होनी चाहिए। यह एक पवित्र कर्त्तव्य है। हम एक अनुमानित ग मेगावाट की माँग रखते हैं, हम अपेक्षित जनसंख्या के लिए इतने जल की आवश्यकता बताते हैं। इसका समाधान आप को आपूर्ति के माध्यमों से ही करना है। और, आपूर्ति के समाधान के रूप में प्रस्तुत है बड़ी बड़ी परियोजनाओं का निर्माण ।

उपर्युक्त दोनों तर्कयुग्मों के साथ ही आप ने पूर्व में मंत्री रहे के. एल. राव को गंगा और कावेरी को जोड़ने की बात करते भी सुना होगा। वह गंगा से कावेरी में पानी लाना चाहते थे, परन्तु यह विचार इस लिए छोड़ना पड़ा क्योंकि इसके लिए नदियों के इतने जोड़ बनाने पड़ते और उसमें इतनी ऊर्जा लगानी पड़ती कि वह सीधे सीधे अप्रबन्धनीय थी। दस्तूर नामक एक अन्य व्यक्ति जो पेशे से इंजीनियर भी नहीं एक पायलट थे उन्हें भारत के सम्पूर्ण सामुद्रिक तट का हवाई सर्वेक्षण करने बाद यह विचार आया कि उसे एक मालारूपी नहर से जोड़ा जा सकता है। आप इन सब पर हंस सकते हैं परन्तु यह विचार लोगों के दिमाग को प्रभावित अवश्य करते हैं। आज भी लोग इस तरह सोचते मिलेंगे कि जल को लम्बी दूरियों तक ले जाया जा सकता है।

जब हम भारत के जलीय स्रोतों पर निगाह डालें तो हमें दिखाई देता है कि ब्रह्मपुत्र नदी में बहुत पानी है। ब्रह्मपुत्र कहां है ?यह अत्यन्त दूर स्थान में है। आप उससे पानी कैसे ले सकते हैं ?आप एक नहर बनाइए। एक समय यह भारत और बंगलादेश के संबंधों के बीच एक बड़ा विषय बन गया था। वे 100,000 क्युसेक्स की एक वृहद् नहर बनाना चाह रहे थे। मैं नहीं जानता आप 100,000 क्युसेक्स से क्या अंदाज़ा लगा सकते होंगे, यह कावेरी की कुल लम्बाई की दोगुनी जितनी होती। यह आसाम में जोघीगोप से प्रारम्भ होकर पूरे बांग्लादेश से गुजरती हुई फ़रक्का के निकट गंगा में पानी उड़ेलने के काम आती।

जैसा कि होना था बांग्लादेश ने इस पर कड़ा एतराज़ दर्ज़ किया। परन्तु इसलिए नहीं कि वह इस मामले में हमसे ज्यादा समझदार हैं, बल्कि वह किसी और परियोजना के बारे में सोच रहे थे, और वह इससे जुड़े सुरक्षा कारणों से चिन्तित थे। अत: इस पागलपन का विचार तो छोड़ना पड़ा परन्तु पूरी तौर पर नहीं।

मैं अब समन्वित जल संसाधन योजना के राष्ट्रीय आयोग (नेशनल कमीशन इन इण्टेग्रेटेड वॉटर रिसोर्स

प्लानिंग) का सदस्य हूँ। इस आयोग के विचार हेतु प्रस्तुत एक विषय नदियों के जल का अन्तर्घाटी स्थानान्तरण है। जिसके अनुसार यदि किसी एक नदी घाटी में जल का अभाव है तो हम अतिरिक्त जल वाली नदी घाटी से वहाँ जल प्रवाहित कर सकते हैं। राष्ट्रीय जल विकास अभिकरण (नेशनल वॉटर डेवलपमेण्ट एजेन्सी) नाम से एक अन्य उपक्रम भी है जो महानदी से गोदावरी, गोदावरी से कृष्णा, कृष्णा से पेनांग और पेनांग से कावेरी को जल पहुँचाने की योजना की संभावना तलाश करने में लगा है।

परन्तु उसके दुर्भाग्य से उड़ीसा यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि महानदी में अतिरिक्त जल उपलब्ध है और आंध्र प्रदेश (उस समय तक अविभक्त) गोदावरी में किसी अतिरिक्त जल की स्थिति नहीं मानता। आप को यह जानकर आश्चर्य होगा कि भारत-बांग्लादेश वार्ता के दौर में दोनों देशों ने यह स्वीकार किया था कि गंगा में जल का अभाव है। मैं इस पर प्रश्न उठा सकता था परन्तु यह दोनों सरकारों के बीच विचार का समान धरातल था। पुन: आप इस पर विस्मय कर सकते हैं कि बांग्लादेश के इंजीनियरों ने पूरे जोर से यह बात रखी कि ब्रहमपुत्र में भी पर्याप्त पानी नहीं है। आप जानते हैं कि ब्रहमपुत्र दुनिया की सर्वाधिक बड़ी नदियों में शामिल है, एमेजन से शायद कुछ ही छोटी। अत: यदि आप कहते हैं कि ब्रहमपुत्र में ही पर्याप्त पानी नहीं है तब तो पानी किसी दूसरे नक्षत्र से ही लाना होगा। शायद किसी बर्फीले नक्षत्र से जिसकी खोज की जा रही है।

जल के उपभोग की वर्तमान स्थिति हमारे लिए अप्रबन्धनीय माँग को प्रक्षेपित करती है। इन माँगों को पूरा करने के लिए हम इन अविवेकपूर्ण तकनीकि आधारित आपूर्ति समाधानों को प्रस्तावित करते हैं। इसमें जनता के सहभागितायुक्त प्रबन्धन के लिए कोई स्थान नहीं होता। परियोजनाओं का स्वरूप ही ऐसा होता है कि इसमें सहभागितायुक्त प्रबन्धन की कोई गुंजाइश नहीं होती।

मैं समझता हूँ कि आगे पीछे स्थानीय स्तर पर कुछ छोटे छोटे उपायों को ही किसी बड़ी नीतिगत कार्यक्रम का हिस्सा बनाना होगा, अन्यथा उसका समस्याग्रस्त होना तय है।

हमने 1985 में जो कुछ ड्राफ्ट किया वह पहला शुरूआती प्रयास था। मैं इसे अपर्याप्त और दोषयुक्त शुरूआत मानता हूँ। अभी इसमें बहुत कुछ किया जाना है। दुर्भाग्यपूर्ण है कि इसके क्रियान्वयन अथवा इसे आगे बढ़ाने के लिए और कुछ नहीं किया जा सका है। मैं इसे कैसे सुधार सकता हूँ ?

मैं कहना चाहूँगा कि बजाय माँग को प्रक्षेपित करने और उसकी आपूर्ति के उपाय करते रहने की इस पूरी प्रक्रिया को ही पलटने की ज़रूरत है। हमें आपूर्ति की स्थिति के अनुरूप ही माँग को नियंत्रित करना चाहिए। बहुत कुछ किया जा सकता है। स्थानीय स्तर पर जल प्रबन्धन और सामाजिक परिवर्तन के अनेक उदाहरण हैं और ध्यान देने योग्य उदाहरण मौज़ूद हैं। आप ने अन्ना हजारे के रालेगाँव सिद्धी या पानी पंचायतों के बारे में सुना होगा। हरियाणा के सुखोमर्जी के बारे में भी। ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में लोगों का एक समूह अनेक तरीकों से स्थानीय स्तर पर जलापूर्ति को सुधारने के कार्य में लगा है। जैसे नफ़जगढ़ बरसाती जल निकास प्रणाली को आन्तरिक नहरों के निर्माण द्वारा जल संभरण व्यवस्था में बदलने का काम, हौजखास जैसे बेकार हो चुके जलीय स्रोतों को पुनर्जिवित करने का काम, मकान की छतों से बरसाती पानी के संग्रहण का कार्य आदि। मद्रास में छतों से बरसाती पानी के संग्रहण के प्रयास में काफी प्रगति हुई है। यदि आप इस संबंध में इंजीनियरों से बात करेंगे तो वह भी इन प्रयासों की सराहना ही करते मिलेंगे, परन्तु वह इसे बड़ी परियोजनाओं के सहायक उपक्रमों के ही रूप में कहेंगे। परन्तु यह एक गलत बयानी होगी। हम जानते हैं कि बड़ी परियोजनाओं में क्या होगा क्योंकि हम इसका प्रयोग कर चुके हैं।

हम नहीं जानते कि जल समस्या के समाधान के इन स्थानीय उपक्रमों का क्या होगा क्योंकि हमने इसे किसी बड़े स्तर पर लागू नहीं किया है। हमे हज़ारों की संख्या में इसको आजमाना होगा। हमें माँग के नियंत्रण के साथ स्थानीय जल-प्रबन्धन की ओर मुड़ना होगा।

जल नीति का शीर्ष जल बोर्ड केवल इंजीनियरों का ही बोर्ड है। इसमें न कोई कृषि वैज्ञानिक है और न कोई पर्यावरणविद। जल केवल इंजीनियरिंग का विषय नहीं हैं। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है।

हमें शुरूआत से ही समुदायों को इसमें भागीदार बनाना चाहिए। तब नहीं जब परियोजना तैयार हो जाए और उसे अपनी राय देने के लिए लोगों के बीच फेंक दिया जाए। यह सही तरीका नहीं है। इन सुधारों को अपनाया जाना ज़रूरी है। मुझे बहुत आशा नहीं है कि यह सुधार लाए जाएंगे, फिर भी हमें प्रयास तो करते रहना होगा।

अनुवाद : महेश विक्रम

भूजलीय पारिस्थितिकी के क्षेत्र में एक किंवदन्ती

मेधा पाटकर

जनआन्दोलनों का राष्ट्रीय समन्वय, नर्मदा बचाओ आन्दोलन एवं अनेक सहवर्ती आन्दोलन, संगठन तथा विचारशील नागरिक रामास्वामी अय्यर के निधन से दुखी होंगे। जिनका जल-प्रबन्धन, पर्यावरण और जनोन्मुखी विकास के मसलों से सम्पूर्ण देश में दशकों तक का सरोकार हम सबके लिए कभी न भूलाए जा पाने वाले प्रकाश के स्रोत और शक्ति के समान है।

वह जल संसाधन मंत्रालय के ऐसे चंद अधिकारियों में थे जिन्होंने एक सचिव के रूप में न केवल अपने दायित्व का निर्वाह किया बल्कि उसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया। चाहे वह बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के मूल्याँकन का प्रश्न हो, नदियों को जोड़ने के परिणामों की बात हो, या बड़ी परियोजनाओं के पर्यावरणीय प्रभाव आदि की बात हो, इन सभी मसलों पर एक पूर्णतया वैज्ञानिक और जनाधिकारों पर आधारित उनका स्पष्ट नजरिया एक मूल्यवान योगदान है।

जमीनी मसलों से जुड़ने में उनका अद्भुत खुलापन, जल से सम्बन्धित कानूनी, सामाजिक और राजनीतिक सभी प्रकार की पेचीदिगियों से जुड़ी समस्याओं की उनकी गहरी समझ, जल से सम्बन्धित कानून पर अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के विकास में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका, उनका प्रासंगिक विश्लेषण, तीखे सवालों को विनम्रता के साथ उठाने का तरीका रामास्वामी जी की अनेक विशेषताओं में से कुछ एक थीं।

उनकी शक्ति की एक विलक्षणता यह भी थी कि उन्हें कभी भी सत्ता-विरोधी के रूप में नहीं जाना गया जबकि वह स्वीकार कर लिए जाने योग्य अपने विश्लेषण एवं मजबूत तथ्यात्मक ज्ञान के साथ हमेशा ही सत्ता प्रतिष्ठान को चुनौती देते रहे। अपनी अन्तिम साँस तक वह लेख, किताबें एवं समीक्षाएँ लिखते रहे जो सबके लिए एक खजाना है।

काफ़ी पहले 1993 में नर्मदा बचाओ आन्दोलन के दौरान हमें अच्छी तरह याद है कि जल मंत्रालय के एक प्रमुख अधिकारी के रूप में वह पंच सदस्यीय पुनरीक्षण समिति की सम्पूर्ण कार्यवाही में धैर्यपूर्वक बैठे रहे और समिति की रीढ़ के रूप में कार्य करते हुए सरदार सरोवर परियोजना की लागत और उसके फ़ायदे नुकसान को स्वयं समझने और अन्य सदस्यों को समझाने के लिए कष्टपूर्ण प्रयास करते रहे। उस पंच-सदस्यीय समिति की रिपोर्ट स्वयं में एक क्लासिक है।

हम कभी नहीं भूलेंगे कि नर्मदा के लिए संघर्ष के 25वें वर्षगाँठ के महान अवसर पर अय्यर जी किस प्रकार पूरे तीन दिन अपने परिवार सहित नर्मदा घाटी में रूके रहे थे और पहाड़ों और मैदान के आदिवासियों और किसानों के साथ उनकी समस्याओं को साझा करते और उनको अपना समर्थन देते रहे थे। प्रोफेसर उपेन्द्र बख्शी, अरुणा रॉय, हर्ष मंदर, बी.डी. शर्मा जैसे प्रसिद्ध नागरिकों के साथ सर्वोच्च न्यायालय में नर्मदा के मामले में एक याची के रूप में उन्होंने कुछ नकदी मुआवजा देकर सरदार सरोवर के विस्थापितों से जान छुड़ा लेने की असंवैधानिकता का प्रश्न उठाया।

राज्य, नागरिक समाज और जनआन्दोलनों द्वारा समान रूप से आदृत्, विद्वत्ता से युक्त और जनता की समस्याओं के प्रति पूर्णतया प्रतिबद्ध ऐसा व्यक्ति आज के समय में मिलना दूष्कर है। भारत और अन्यत्र समस्त प्रगतिशील समुदायों को पहुंच रही अनानुमानित क्षति के इस मौके पर हम उनके सभी निकट सम्बन्धियों एवं प्रियजनों के साथ खड़े हैं। आज हमें विकास के नाम पर लगातार बोले जा रहे झूठ से लड़ने के लिए रामास्वामी जी और उन जैसे अनेक और व्यक्तियों की आवश्यकता है। रामास्वामी जी, हम आप की कमी अनुभव कर रहे हैं, इसके साथ ही अपनी नदियों, प्राकृतिक स्रोतों और उनपर निर्भर लोगों के लिए संघर्ष जारी रखने का संकल्प लेते हैं। ●

> "राष्ट्र की जड़ों को कमजोर करने की शक्ति सिर्फ साम्प्रदायिकता में है। साम्प्रदायिक अलगाववाद से राष्ट्र का विभाजन एक बार हो चुका है, तो आगे भी हो सकता है।" –किशन पटनायक

परंपरा से जुड़कर समाज से कटा समुदाय

अतुल कुमार

देश भर में परंपरागत रूप से रहते आए अनेक ऐसे समुदाय हैं जिनके जीवन का आधार प्रकृति रही है। उनका प्रकृति से तादात्म्य और समाज की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से गहरा रिश्ता उन्हें खेती किसानी से जुड़े देशी समाज के लिए महत्व का बनाता है। दुर्भाग्य से शासकों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे और समाज में फूट डालने की नीयत से उनमें समय-समय पर विभेद पैदा किया गया और इसमें वे सफल रहे। इसी नीति के तहत अनेक समुदायों के परंपरागत पेशे से उन्हें बेदखल कर उन पेशों और रोजगार पर कब्जा कर लिया गया और इन्हें कानूनों के द्वारा अपराधी घोषित कर दिया गया। अनेक ऐसे समुदाय रहे हैं जिनका कोई स्थायी ठिकाना नहीं रहा है और घूमते हुए अपना जीवन यापन करते रहे। इन्हें घुमंतू कहा गया और इनमें से ही कई के पेशे को गैरकानूनी बनाकर उन्हें अपराधी कहा गया।

भारतीय क्षेत्र पर समय-समय पर हमला करनेवालों ने यहां के लोगों को अपना समर्थक और अपनी स्वामिभक्त प्रजा बनाने का भी काम किया। जो बन गए वे तो ठीक, लेकिन जिन्होंने अपनी परंपरा को छोड़ने से इनकार किया उनके पेशों को अपराध बताकर उन्हें तरह तरह से अपमानित भी किया जाता रहा है। मसलन, राजस्थान के बाड़मेर जिले के सिणधारी इलाके में भाट-बनजारा समुदाय के लोग रहते हैं। परंपरागत रूप से इस समुदाय का काम था, मुलतानी मिट्टी से नमक बनाना और उसे गधों, ऊंटों पर लादकर देश के अन्य हिस्सों में बेचना। अंग्रेजों ने जब 1757 में पलासी की लड़ाई जीत कर बंगाल, बिहार और ओडीशा की दीवानी हासिल की तब उन्होंने देश के इस नमक पर भी कर लगाया। बाद में अंग्रेजी राज्य का विस्तार इन इलाकों में होने पर इनके नमक बनाने और बेचने को अवैध घोषित कर दिया गया। कर लगने के बाद नमक की कीमत बेतहाशा बढ़ी और नतीजतन इनका धंधा चौपट हो गया। लेकिन किसी अन्य रोजगार के अभाव में भुखमरी के कारण बनजारों ने नमक का काम जारी रखा। इस कारण यह समुदाय अंग्रेजों का कोपभाजन बना और इसको अपराधी जाति की श्रेणी में डाल दिया गया। इसी तरह मध्य प्रदेश के पारधी समुदाय जंगलों में आखेट से जीवन यापन करनेवाला समुदाय रहा है। इनका काम स्थानीय स्तर पर देशी शराब बनाने का रहा है। लेकिन अंग्रेजों के वन कानून और शराब पर टैक्स लगने के कारण वन में जाने पर वे अपराधी की श्रेणी में आ गए। पंजाब के सांसी तो महाराजा रणजीत सिंह की सेना में थे। रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद उनके राज्य को अंग्रेजों ने हड़प लिया और सेना को अपराधी करार दिया। इसी तरह की तमाम जातियां हैं।

इन्हें अपराधी ठहराने और इनका पेशा छीनने का काम पहले मुगलों ने शुरू किया और अंग्रेजों तक यह चलता रहा है। एक आकलन के अनुसार दुनिया में घुमनेवाले ऐसे समुदायों की आबादी कई करोड़ है।

हालांकि आजादी के बाद उनपर से अपराधी होने का तमगा 1949 में हटा दिया गया लेकिन 1952 में आदतन अपराधी कहते हुए नए कानून के तहत उन्हें फिर उसी स्थिति में डाल दिया गया है। खानाबदोश और कथित तौर पर विमुक्त की गई जातियों के नाम से विचरण करनेवाली आबादी हर तरह की सरकारी कल्याणकारी योजनाओं से वंचित तो है हीं, कानूनों और प्रतिबंधों के कारण उन्हें उन जगहों से भी खदेड़ा जा रहा है जो उनकी पीढ़ियों के लिए प्राकृतिक विचरण के क्षेत्र रहे हैं। इनमें जंगल और जल क्षेत्र प्रमुख हैं।

भारत सरकार ने खानाबदोश और अविमुक्त जनजातियों की स्थिति, उनकी समस्याओं और इसका निराकरण सुझाने के लिए 2005 में बालकृष्ण रेणके की अध्यक्षता में घुमंतू, अर्द्धघुमंतू और अविमुक्त जनजाति आयोग का गठन किया। इस आयोग ने 2008 में अपनी विस्तृत रिपोर्ट और संस्तुतियां सरकार को सौंप दी। लेकिन, इसके बाद सरकार ने इस रिपोर्ट को ठंडे बस्ते में डाल दिया। मजे की बात तो यह है कि इस आयोग का

गठन करने वाली सरकार के प्रधानमंत्री तब भी डॉ. मनमोहन सिंह थे और रिपोर्ट जमा के समय भी वही थे। तब यह रिपोर्ट संसद के पटल पर क्यों नहीं रखी जा रही थी, समझ के परे है।

एक अनुमान के मुताबिक, देश भर में इस समय इन आदिम जनजातियों की कुल आबादी 12 से 15 करोड़ आंकी गयी है। जो देश की आबादी का लगभग 10 फीसदी है। इनमें से बहुत से समुदाय ऐसे हैं जो अपने चरित्र और व्यवहार में तो खानाबदोश हैं लेकिन कई राज्यों में इन्हें अन्य पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति श्रेणी में शामिल कर दिया गया है। इस तरह से इनकी आबादी का सही आंकड़ा प्राप्त नहीं हो पाता है।

आदिम जातियों के साथ दूसरी समस्या यह आती है कि इनका कहीं स्थायी ठिकाना न होने से किसी राज्य सरकार द्वारा इनके लिए उचित संरक्षण या योजनाएं नहीं चलाई जाती हैं। ये जनजातियां साल के अलग-अलग महीनों में अलग-अलग राज्यों में विचरण करती हैं। इसलिए हर राज्य इन्हें अपना अतिथि नागरिक कहकर इनसे पिंड छुड़ा लेता है। इसके अलावा, इन जनजातियों की गणना भी सरकारी जनगणना में ठीक से नहीं हो पाती। बालकृष्ण रेणके ने इन घुमंतुओं, अर्धघुमंतुओं और अविमुक्त जनजातियों का देशभर में अध्ययन किया। इन घुमंतुओ, अर्ध घुमंतुओं और अविमुक्त जनजातियों में जागरूकता, उनका विकास और उनके जीवन यापन को सुचारू करने के लिए जरूरी है कि रेणके रिपोर्ट को जल्द से जल्द संसद के पटल पर रखा जाए और इस रिपोर्ट पर कार्रवाई रिपोर्ट (एटीआर) तैयार कर इनके लिए कल्याणकारी योजनाएं लागू की जाएं।

इसके लिए बहुआयामी योजनाएं बनाने और उसे क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। यहां ऐसी जन-जातियों के प्रतिनिधियों, अन्य विषय विशेषज्ञों और कुछ समाजशास्त्रियों से विचार कर कुछ सुझाव प्रस्तुत हैं जिन्हें अंतिम तो नहीं माना जा सकता लेकिन सकारात्मक दिशा में उठा कदम मानकर इसके सुधार, संवर्धन कर इसे लागू किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर इन जनजातियों के कल्याण के लिए 1952 का आदतन अपराधी कानून को तो खत्म किया ही जाए, साथ ही जंगलों में जाने-आने में इन्हें कोई रोक-टोक नही हो। इन जनजातियों की देशभर में पहचान कर इन्हें पहचान पत्र दिया जाए। यह पहचान पत्र किसी ग्रामसभा या सरकारी प्राधिकरण के माध्यम से नहीं बल्कि उस कबीले के मुखिया के कहने पर एक समिति द्वारा दिया जाए। इस समिति में सरकारी अधिकारी भी हों लेकिन पहचान का अधिकार कबीले के लोगों के पास ही हो। जिला प्रशासन ऑन द स्पॉट कैंप लगाकर भी इन जनजातियों को उनके रहवास के स्थान पर जाति पत्र, पहचान पत्र, राशन कार्ड, बीपीएल कार्ड, मतदाता पहचान पत्र, यूनिक आइडेंटिफिकेशन कार्ड आदि वितरित कर सकता है।

पहचान देने में जिला प्रशासन को ही अंतिम प्राधिकरण मानने के बजाये इसके खिलाफ भी अपील की व्यवस्था की जानी चाहिए या जिला प्रशासन को राज्य स्तरीय या जिला स्तरीय गठित उस समिति के निरीक्षण में रखा जाना चाहिए, जिस समिति में सरकारी अधिकारियों के साथ ही समाजशास्त्री, जन संगठन, नृतत्वशास्त्री और समाज के गणमान्य लोग शामिल हों। भिक्षावृत्ति निरोधक कानून और वन्य जीव संरक्षण कानून से भी इन्हें तब तक मुक्त रखा जाना चाहिए, जब तक कि इनके जीवन-यापन की वैकल्पिक व्यवस्था न कर दी जाए। क्योंकि कई समुदायों का पेशा ही भिक्षावृत्ति के दायरे में आ जाता है। उदाहरण के लिए, रस्सी पर चलकर खेल दिखानेवाले या बंदर -भालू के साथ गांवों में घूम कर मांगनेवाले भिक्षावृत्ति निरोधक कानून की जद में आते हैं और इन्हें जब चाहे गिरफ्तार किया जा सकता है। इसी तरह वन प्राणियों जैसे, सांप, भालू, बंदर, तोता आदि लेकर चलनेवाले भी वन्य संरक्षण कानून के उल्लंघन के आरोपी साबित हो जाते हैं।

इस आबादी को तीन श्रेणी से कम कर दो श्रेणी-घुमंतू और अविमुक्त- में विभाजित किया जाए। दरअसल घुमंतू और अर्द्धघुमंतू जनजातियों की प्रकृति लगभग एक सी है। इनके अंतर सिर्फ उनके विचरण करने की बारंबारता के आधार पर किया गया है जो ठीक नहीं है। दो श्रेणियां बन जाने से इनके बारे में योजना बनाने, इन्हें लक्ष्य समूह बनाने में आसानी हो जाएगी।

इन श्रेणियों की आदिम जनजातियां देश के हर क्षेत्र में पाई जाती हैं। लेकिन किसी भी राज्य के पास इनकी संपूर्ण सूची उपलब्ध नहीं है और न ही अब तक राज्यों ने इसे अपडेट कर सूची बनाने की कोशिश की हैं। बिहार में करोड़, नट, बक्खो, इत्यादि कई जातिया विचरण करती हैं

लेकिन बिहार सरकार का रिकॉर्ड कहता है कि राज्य में ऐसी कोई घुमंतू जाति नहीं है। राजस्थान-गुजरात में वैरागी, मदारी, बांसफोड़ा, नायक, बाओरी, सराणियां, मांगणियार, रेबारी, गरासिया आदि हैं। हिमाचल प्रदेश में बंगाला नामकी जाति है जो संपेरे का पेशा अपनाए हुए है। उत्तर प्रदेश में कंजर, भील आदि जातियां हैं।

केंद्र को राज्यों को इस आशय के निर्देश जारी करने चाहिए कि हर राज्य अपने क्षेत्राधिकार में पूर्ण रूप से निवास करनेवाली या विचरण करनेवाली आदिम जनजातियों की व्यापक सूची तैयार कराए। इस काम में इस क्षेत्र में काम करनेवाले गैर सरकारी संगठनों, नृतत्वशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, इन आदिम जनजाति समुदायों के कुछ लोगों को शामिल किया जाना चाहिए। ताकि इनकी समग्र पहचान हो सके और पहले से विभिन्न दूसरी श्रेणियों मसलन, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग आदि में शामिल समुदायों को वहां से हटाकर घुमंतू और अविमुक्त जनजाति श्रेणी में शामिल किया जा सके। इसके लिए सचिव स्तरीय सरकारी अधिकारी के नेतृत्व में हर राज्य में एक समिति बनाकर काम शुरू किया जाना चाहिए। राज्य सरकारें जनगणना की तरह इन आदिम समुदायों की अलग से गणना कराकर इनकी समुचित, असल और समग्र संख्या उजागर करे और उसे प्रकाशित किया जाए। इसके साथ यह भी पहचान हो कि किस जिले या राज्य में किस समुदाय की कितनी आबादी कितने समय तक निवास करती हैं।

राज्यों में उच्चस्तरीय सलाहकार समिति का गठन किया जाना चाहिए जो इन समुदायों के बारे में आवश्यक सलाह राज्य सरकार को दे। इन समितियों में पुलिस और प्रशासन के अधिकारियों के साथ सांसद, विधायक, जन संगठनों के प्रतिनिधि और समाजशास्त्रियों के साथ ही नृतत्वशास्त्रियों को रखा जाना चाहिए। इस समिति को राज्य स्तर के साथ ही जिला स्तर पर गठन हो। इनके लिए व्यापक स्तर पर बड़ी और समग्र कल्याणकारी योजनाएं बनाने की जरूरत है जिनमें शिक्षा, स्वास्थ्य, वसाहट, इनके अनुकूल रोजगार और विचरण की व्यवस्था एक साथ हो। इनके लिए स्कूल और अस्पताल की व्यवस्था इनके लिए बनाए आवासीय परिसरों के पास ही हो और स्कूलों में मध्याह्न भोजन आदि की व्यवस्था प्रभावी ढंग से लागू की जाए।

इन सबसे अहम है कि देश के प्रशासन तंत्र के अधिकारियों - पुलिस संगठन को प्रशिक्षण दिया जाए कि वे इन समुदायों के साथ मानवीय व्यवहार करें। इन सुधारों को लागू किए बिना इन समुदायों के कल्याण और इन पर होने वाले अत्याचारों में सुधार संभव नहीं है।

●

भारतीय भाषाओं के साथ ही आगे बढ़ सकती है हिंदी

सुयश सुप्रभ

राजभाषा हिंदी ने न केवल जनहिंदी के विकास को रोकने का काम किया है बल्कि इसके कारण अन्य भारतीय भाषाएँ भी असुरक्षित महसूस करती हैं। हम हिंदीवालों को इस सवाल से बचने की कोशिश नहीं करनी चाहिए कि जब गुजरात उच्च न्यायालय ने 2010 में यह साफ कर दिया कि भारत की कोई राष्ट्रभाषा नहीं है तो हम हिंदी के राष्ट्रभाषा होने की बात कहने वाले लोगों को सच्चाई बताने से हिचकिचाते क्यों हैं। कहीं इस हिचकिचाहट के पीछे हमारे मन में हिंदी के राष्ट्रभाषा नहीं होने के तथ्य को नकारने की भावना तो नहीं है? राष्ट्रभाषा बनने के मोह में हिंदी साधारण भाषा के रूप में भी अपना अस्तित्व नहीं बचा पाएगी। अगर हम हिंदी के भविष्य को सुरक्षित करना चाहते हैं तो हमें संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल सभी भारतीय भाषाओं को भारत की राजभाषा बनाने की माँग का समर्थन करना चाहिए। ऐसा करके हिंदी अन्य भारतीय भाषाओं के साथ कंधे से कंधा

मिलाकर राजभाषा हिंदी और अंग्रेजी दोनों का मुकाबला कर पाएगी।

क्या हमने उन लोगों के तर्कों को ठीक से समझने की कोशिश की है जो अपने राज्य में राजभाषा हिंदी के थोपे जाने का विरोध करते हैं? क्या हम कर्नाटक के उन यात्रियों की परेशानी समझ सकते हैं जो ट्रेन या हवाई जहाज से तमिलनाडु जाते समय हिंदी और अंग्रेजी में लिखे या बोले गए सुरक्षा निर्देशों को नहीं समझ सकते हैं? क्या केंद्र सरकार की नौकरियों की परीक्षाओं में केवल अंग्रेजी और हिंदी का प्रयोग करना अन्य भारतीय भाषाओं के साथ भेदभाव का उदाहरण नहीं है? इन सवालों से बचने की कोशिश वही लोग करेंगे जिन्हें लोकतांत्रिक मूल्यों की परवाह नहीं है। भाषा का सवाल केवल उन असुविधाओं से नहीं जुड़ा होता है जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। भाषा हमारी पहचान से भी जुड़ी होती है। जब बंगाल या कर्नाटक में केंद्र सरकार के कार्यालय में केवल हिंदी और अंग्रेजी का प्रयोग होता है तो यह अहिंदीभाषियों के अपमान का भी उदाहरण बनता है। क्या हम बिहार या उत्तर प्रदेश में किसी कार्यालय में हिंदी की जगह कन्नड़ या किसी अन्य भाषा के प्रयोग पर आपत्ति नहीं दर्ज करेंगे? हमें यह समझना होगा कि सभी भारतीय भाषाओं का समान महत्व है।

हाल ही में एक अच्छी पहल सामने आई है। प्रोमोट लैंग्वेज इक्वालिटी नाम के संगठन में कई राज्यों के लोग हिंदी और अंग्रेजी को भारतीयों पर थोपने का विरोध करने के लिए एकजुट हुए हैं। यह संगठन संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल सभी भारतीय भाषाओं को भारत की राजभाषा बनाने की माँग कर रहा है। इस साल स्वतंत्रता दिवस के समय इस संगठन के सदस्य ट्विटर पर #StopHindiImposition हैशटैग डालकर अपने राज्यों पर हिंदी के थोपे जाने का विरोध कर रहे थे। यह हैशटैग उस दिन ट्विटर पर छाया रहा। उन लोगों ने विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान ट्विटर पर #StopHindi-Imperialism हैशटैग के माध्यम से अपनी बात सामने रखी। अखबारों में इस ऑनलाइन विरोध से जुड़ी खबरें छपीं। बाद में इस संगठन ने चेन्नई में 19-20 सितंबर को आयोजित सम्मेलन में भाषा अधिकारों से जुड़ा घोषणा पत्र जारी किया। इस सम्मेलन में उन भाषाओं को भी संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की माँग की गई है जिन्हें लंबे समय से अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है।

भारत में सही अर्थ में लोकतंत्र तभी आएगा जब जनता अपनी भाषा में सरकार से बात कर पाएगी। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी मन की बात नाम के अपने रेडियो कार्यक्रम में लोगों से हिंदी और अंग्रेजी में सवाल करने को कहते हैं। यह कैसा लोकतंत्र है जिसमें नागरिकों को केवल दो भाषाओं में अपनी बात कहने का मौका दिया जाता है? जो सरकार हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की भाषाओं में शामिल करने के लिए लगभग 275 करोड़ रुपये खर्च करने को तैयार है, वह अपने देश में ही नागरिकों की भावनाओं और सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए उनकी भाषाओं के लिए कुछ सार्थक क्यों नहीं करती है? असली मसला संसाधनों की कमी का नहीं है। समस्या यह है कि भारत में लोकतंत्र को केवल चुनावी तिकड़मों तक सीमित कर दिया गया है। अगर सरकार को नागरिकों की सुविधा का ध्यान होता तो रेलवे टिकट केवल हिंदी और अंग्रेजी में नहीं होते। वर्तमान केंद्र सरकार अपनी योजनाओं का नामकरण केवल हिंदी में नहीं करती। न्यायालयों में अपनी भाषा में मुकदमा लड़ने की माँग करने वाले लोगों को जेल नहीं जाना पड़ता। करोड़ों लोग अंग्रेजी पर अच्छी पकड़ नहीं होने के कारण कुंठित नहीं होते। भारतीय भाषाओं के ग्राहकों को केवल अंग्रेजी में जानकारी नहीं दी जाती। संसद में भाषांतरण की सुविधा केवल हिंदी और अंग्रेजी में नहीं उपलब्ध होती। ऐसे न जाने कितने तथ्य हैं जो यह साबित करते हैं कि भारत में भाषा को आज तक लोकतंत्र से जोड़कर देखा ही नहीं गया।

ऐसा नहीं है कि केवल सरकार ने भाषा के मसले को ठीक से नहीं समझा है। भारतीय भाषाओं की अनदेखी करने की गलती बड़ी कंपनियाँ भी करती हैं। जब अमेजन ने दक्षिण भारत में अपने ऐप के विज्ञापन में हिंदी का प्रयोग किया तो बहुत-से लोगों ने इसका विरोध किया। दक्षिण भारत में फ्लिपकार्ट के हिंदी विज्ञापन का भी विरोध हुआ। अधिकतर कंपनियों में केवल अंग्रेजी और हिंदी जानने वाले लोगों को ग्राहक सहायता टीम में रखा जाता है। अन्य भाषाओं के लोगों को इससे दिक्कत होती है। कंपनियाँ तो फिर भी अपने ग्राहकों की बात मान लेती हैं लेकिन सरकार के अड़ियल रवैये के कारण नागरिकों को बहुत-सी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। जब रेल मंत्रालय ने

टिकट को भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराने में अपनी असमर्थता जताई तो प्रोमोट लैंग्वेज इक्वालिटी के कुछ सदस्यों ने मिल-जुलकर ऐसा सॉफ्टवेयर बनाने की घोषणा की जिससे टिकट में बहुत-सी भारतीय भाषाओं को शामिल करना संभव हो जाएगा।

प्रोमोट लैंग्वेज इक्वालिटी के सदस्यों ने भारतीय भाषाओं की अनदेखी के सवाल पर जो बहस छेड़ी है उससे भारत में भाषा की समस्या से जुड़ी कई गलत धारणाओं को दूर करने में भी मदद मिलेगी। पहली गलत धारणा तो यह है कि दक्षिण भारत में हिंदी का विरोध करने वाले लोग यह काम नेताओं के बहकावे में आकर ही करते हैं। हमें यह समझना होगा कि अपने ही राज्य के कार्यालयों, बैंकों आदि में अपनी मातृभाषाओं की अनदेखी से उन्हें न केवल असुविधा होती है बल्कि वे इसे अपना अपमान भी मानते हैं। अगर उनकी भाषा की अनदेखी किसी दूसरी भारतीय भाषा के कारण होती तो वे उसका भी विरोध करते। वे अपने राज्य पर हिंदी के थोपे जाने का विरोध कर रहे हैं न कि हिंदी का। इस अंतर को समझे बिना हम उनके तर्कों को ठीक से नहीं समझ पाएँगे। दूसरी गलत धारणा यह है कि हिंदी का विरोध करने वाले लोग अंग्रेजी के साम्राज्यवादी रूप की अनदेखी करते हैं। प्रोमोट लैंग्वेज इक्वालिटी के घोषणा पत्र में हिंदी और अंग्रेजी दोनों के वर्चस्वकारी रूपों का उल्लेख किया गया है।

अनुवाद को यूरोप की भाषा कहा जाता है। भारत में संवाद के इस साधन को वह प्रतिष्ठा क्यों नहीं दी जा रही है जिसका यह हमेशा से हकदार रहा है? इसका एकमात्र जवाब यह है कि भारत में शासक वर्ग ने विविधता को लोकतंत्र की ताकत बनाने के बदले इसका इस्तेमाल वोट बटोरने और फूट डालने के लिए किया है। यूरोपीय संसद में 24 भाषाओं के अनुवाद की सुविधा उपलब्ध है। मीडिया का एक तबका इसे पैसे की बर्बादी बताता है, लेकिन सच तो यह है कि सांसदों को अपनी भाषा में बात रखने की सुविधा देने से यूरोप में लोकतांत्रिक मूल्यों को मजबूती मिलती है। जो मीडिया अरबपतियों के अरबों रुपये के टैक्स को माफ किए जाने के खिलाफ कोई मुहिम नहीं चलाता है, उसे अनुवाद पर पैसे की बर्बादी की बात कहते देखकर यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि मीडिया किस वर्ग के हित साधने की कोशिश में लगा रहता है। जब-जब लोकतंत्र की बात उठेगी, तब-तब अनुवाद के महत्व पर भी चर्चा होगी। लोकतंत्र और अनुवाद को एक-दूसरे से अलग करके देखना असंभव है। जब यूरोपीय संसद में दो दर्जन से अधिक भाषाओं में काम किया जा सकता है तो हमारे देश की संसदीय कार्यवाही में आठवीं अनुसूची में शामिल सभी भाषाओं के प्रयोग को असंभव क्यों बताया जाता है? हम कब तक इस सवाल की अनदेखी करते रहेंगे? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जनता से उसकी भाषा में बात करना सरकार की जिम्मेदारी है। जो सरकार अपनी इस जिम्मेदारी से भागती है, वह और कुछ भले ही हो लेकिन लोकतांत्रिक तो बिल्कुल नहीं हो सकती ●

''हिन्दू एकता एक महान लक्ष्य है। इसको हासिल करने के लिए जाति-प्रथा और छुआछूत का सारा भेद मिटाना होगा। यह एक महान धार्मिक और सामाजिक कार्य है। सामाजिक रूप से एकताबद्ध हिन्दू, भारतीय राष्ट्र का एक प्रचण्ड रक्षाकवच होगा। विडम्बना यह है कि हिन्दू एकता का कोई संगठन या आन्दोलन नहीं है। जो लोग हिन्दू एकता का नारा दे रहे हैं, वे सामाजिक एकता नहीं चाहते, सिर्फ राजनीतिक संगठन चाहते हैं। एक राजनीतिक लक्ष्य के रूप में हिन्दू एकता एक भ्रामक और विध्वंसक नारा है। यह भारतीय राष्ट्र और हिन्दू समाज को विभाजित करने वाला है। शूद्र समूह के लिए यह एक निरर्थक नारा है। यह एक ब्राह्मण-बनिया नारा है। भारत अव्यक्त रूप में एक हिन्दू राष्ट्र है। लेकिन जो इसको व्यक्त करना चाहेगा, वह इसको तोड़ेगा। वह राष्ट्रतोड़क होने के साथ-साथ हिन्दू तोड़क भी होगा।''

–किशन पटनायक

दस्तावेज

हिंदू बनाम हिंदू

राममनोहर लोहिया

भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी लड़ाई, हिंदू धर्म में उदारवाद और कट्टरता की लड़ाई पिछले पाँच हजार सालों से भी अधिक समय से चल रही है और उसका अंत अभी भी दिखाई नहीं पड़ता। इस बात की कोई कोशिश नहीं की गई, जो होनी चाहिए थी कि इस लड़ाई को नजर में रख कर हिंदुस्तान के इतिहास को देखा जाए। लेकिन देश में जो कुछ होता है, उसका बहुत बड़ा हिस्सा इसी के कारण होता है।

सभी धर्मों में किसी न किसी समय उदारवादियों और कट्टरपंथियों की लड़ाई हुई है। लेकिन हिंदू धर्म के अलावा वे बँट गए, अक्सर उनमें रक्तपात हुआ और थोड़े या बहुत दिनों की लड़ाई के बाद वे झगड़े पर काबू पाने में कामयाब हो गए। हिंदू धर्म में लगातार उदारवादियों और कट्टरपंथियों का झगड़ा चला आ रहा है जिसमें कभी एक की जीत होती है कभी दूसरे की और खुला रक्तपात तो कभी नहीं हुआ है, लेकिन झगड़ा आज तक हल नहीं हुआ और झगड़े के सवालों पर एक धुंध छा गया है।

ईसाई, इस्लाम और बौद्ध, सभी धर्मों में झगड़े हुए। कैथोलिक मत में एक समय इतने कट्टरपंथी तत्व इकट्ठा हो गए कि प्रोटेस्टेंट मत ने, जो उस समय उदारवादी था, उसे चुनौती दी। लेकिन सभी लोग जानते हैं कि सुधार आंदोलन के बाद प्रोटेस्टेंट मत में खुद भी कट्टरता आ गई। कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट मतों के सिद्धांतों में अब भी बहुत फर्क है लेकिन एक को कट्टरपंथी और दूसरे को उदारवादी कहना मुश्किल है। ईसाई धर्म में सिद्धांत और संगठन का भेद है तो इस्लाम धर्म में शिया-सुन्नी का बँटवारा इतिहास के घटनाक्रम से संबंधित है। इसी तरह बौद्ध धर्म हीनयान और महायान के दो मतों में बँट गया और उनमें कभी रक्तपात तो नहीं हुआ, लेकिन उसका मतभेद सिद्धांत के बारे में है, समाज की व्यवस्था से उसका कोई संबंध नहीं।

हिंदू धर्म में ऐसा कोई बँटवारा नहीं हुआ। अलबत्ता वह बराबर छोटे-छोटे मतों में टूटता रहा है। नया मत उतनी ही बार उसके ही एक नए हिस्से के रूप में वापस आ गया। इसीलिए सिद्धांत के सवाल कभी साथ-साथ नहीं उठे और सामाजिक संघर्षों का हल नहीं हुआ। हिंदू धर्म नए मतों को जन्म देने में उतना ही तेज है जितना प्रोटेस्टेंट मत, लेकिन उन सभी के ऊपर वह एकता का अजीब आवरण डाल देता है जैसी एकता कैथोलिक संगठन ने अंदरूनी भेदों पर रोक लगा कर कायम की है। इस तरह हिंदू धर्म में जहाँ एक ओर कट्टरता और अंधविश्वास का घर है, वहाँ वह नई-नई खोजों की व्यवस्था भी है।

हिंदू धर्म अब तक अपने अंदर उदारवाद और कट्टरता के झगड़े का हल क्यों नहीं कर सका, इसका पता लगाने की कोशिश करने के पहले, जो बुनियादी दृष्टि-भेद हमेशा रहा है, उस पर नजर डालना जरूरी है। चार बड़े और ठोस सवालों - वर्ण, स्त्री, संपत्ति और सहनशीलता - के बारे में हिंदू धर्म बराबर उदारवाद और कट्टरता का रुख बारी-बारी से लेता रहा है।

चार हजार साल या उससे भी अधिक समय पहले कुछ हिंदुओं के कान में दूसरे हिंदुओं के द्वारा सीसा गला कर डाल दिया जाता था और उनकी जबान खींच ली जाती थी क्योंकि वर्ण व्यवस्था का नियम था कि कोई शूद्र वेदों को पढ़े या सुने नहीं। तीन सौ साल पहले शिवाजी को यह मानना पड़ा था कि उनका वंश हमेशा ब्राह्मणों को ही मंत्री बनाएगा ताकि हिंदू रीतियों के अनुसार उनका राजतिलक हो सके। करीब दो सौ वर्ष पहले, पानीपत की आखिरी लड़ाई में, जिसके फलस्वरूप हिंदुस्तान पर अंग्रेजों का राज्य कायम हुआ, एक हिंदू सरदार दूसरे सरदार से इसलिए लड़ गया कि वह अपने वर्ण के अनुसार ऊँची जमीन पर तंबू लगाना चाहता था। करीब पंद्रह साल पहले एक हिंदू ने हिंदुत्व की रक्षा करने की इच्छा से महात्मा गांधी पर बम फेंका था, क्योंकि उस समय वे छुआछूत का नाश करने में लगे थे। कुछ दिनों पहले तक, और कुछ इलाकों में अब भी हिंदू नाई अछूत हिंदुओं की हजामत बनाने को तैयार नहीं होते, हालाँकि गैर-हिंदुओं का काम करने में उन्हें कोई एतराज नहीं होता।

इसके साथ ही प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था के खिलाफ दो बड़े विद्रोह हुए। एक, पूरे उपनिषद में वर्ण

व्यवस्था को सभी रूपों में पूरी तरह खत्म करने की कोशिश की गई है। हिंदुस्तान के प्राचीन साहित्य में वर्ण व्यवस्था का जो विरोध मिलता है, उसके रूप, भाषा और विस्तार से पता चलता है कि ये विरोध दो अलग-अलग कालों में हुए - एक, आलोचना का काल और दूसरा, निंदा का। इस सवाल को भविष्य की खोजों के लिए छोड़ा जा सकता है, लेकिन इतना साफ है कि मौर्य और गुप्त वंशों के स्वर्ण-काल वर्ण व्यवस्था के एक व्यापक विरोध के बाद हुए। लेकिन वर्ण कभी पूरी तरह खत्म नहीं होते। कुछ कालों में बहुत सख्त होते हैं और कुछ अन्य कालों में उनका बंधन ढीला पड़ जाता है। कट्टरपंथी और उदारवादी वर्ण व्यवस्था के अंदर ही एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं और हिंदू इतिहास के दो कालों में एक या दूसरी धारा के प्रभुत्व का ही अंतर होता है। इस समय उदारवादी का जोर है और कट्टरपंथियों में इतनी हिम्मत नहीं है कि वे गौर कर सकें। लेकिन कट्टरता उदारवादी विचारों में घुस कर अपने को बचाने की कोशिश कर रही है। अगर जन्मना वर्णो की बात करने का समय नहीं तो कर्मणा जातियों की बात की जाती है। अगर लोग वर्ण व्यवस्था का समर्थन नहीं करते तो उसके खिलाफ काम भी शायद ही कभी करते हैं और एक वातावरण बन गया है जिसमें हिंदुओं की तर्कबुद्धि और उनकी दिमागी आदतों में टकराव है। व्यवस्था के रूप में वर्ण कहीं-कहीं ढीले हो गए हैं लेकिन दिमागी आदत के रूप में अभी भी मौजूद हैं। इस बात की आशंका है कि हिंदू धर्म में कट्टरता और उदारता का झगड़ा अभी भी हल न हो।

आधुनिक साहित्य ने हमें यह बताया है कि केवल स्त्री ही जानती है कि उसके बच्चे का पिता कौन है, लेकिन तीन हजार वर्ष या उसके भी पहले जबाल को स्वयं भी नहीं मालूम था कि उसके बच्चे का पिता कौन है और प्राचीन साहित्य में उसका नाम एक पवित्र स्त्री के रूप में आदर के साथ लिया गया है। हालाँकि वर्ण व्यवस्था ने उसके बेटे को ब्राह्मण बना कर उसे भी हजम कर लिया। उदार काल का साहित्य हमें चेतावनी देता है कि परिवारों के स्रोत की खोज नहीं करनी चाहिए क्योंकि नदी के स्रोत की तरह वहाँ भी गंदगी होती है। अगर स्त्री बलात्कार का सफलतापूर्वक विरोध न कर सके तो उसे कोई दोष नहीं होता क्योंकि इस साहित्य के अनुसार स्त्री का शरीर हर महीने नया हो जाता है। स्त्री को भी तलाक और संपत्ति का अधिकार है। हिंदू धर्म के स्वर्ण युगों में स्त्री के प्रति यह उदार दृष्टिकोण मिलता है जबकि कट्टरता के युगों में उसे केवल एक प्रकार की संपत्ति माना गया है जो पिता, पति या पुत्र के अधिकार में रहती है।

इस समय हिंदू स्त्री एक अजीब स्थिति में है, जिसमें उदारता भी है और कट्टरता भी। दुनिया के और भी हिस्से हैं जहाँ स्त्री के लिए सम्मानपूर्ण पद पाना आसान है लेकिन संपत्ति और विवाह के संबंध में पुरुष के समान ही स्त्री के भी अधिकार हों, इसका विरोध अब भी होता है। मुझे ऐसे पर्चे पढ़ने को मिले जिनमें स्त्री को संपत्ति का अधिकार न देने की वकालत इस तर्क पर की गई थी कि वह दूसरे धर्म के व्यक्ति से प्रेम करने लग कर अपना धर्म न बदल दे, जैसे यह दलील पुरुषों के लिए कहीं ज्यादा सच न हो। जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े नहीं हों, यह अलग सवाल है, जो स्त्री व पुरुष दोनों वारिसों पर लागू होता है, और एक सीमा से छोटे टुकड़ों के और टुकड़े न होने पाएँ, इसका कोई तरीका निकालना चाहिए। जब तक कानून या रीति-रिवाज या दिमागी आदतों में स्त्री और पुरुष के बीच विवाह और संपत्ति के बारे में फर्क रहेगा, तब तक कट्टरता पूरी तरह खत्म नहीं होगी। हिंदुओं के अंदर स्त्री को देवी के रूप में देखने की इच्छा, जो अपने उच्च स्थान से कभी न उतरे, उदार से उदार लोगों के दिमाग में भी बेमतलब के और संदेहास्पद खयाल पैदा कर देती है। उदारता और कट्टरता एक-दूसरे से जुड़ी रहेंगी जब तक हिंदू अपनी स्त्री को अपने समान ही इंसान नहीं मानने लगता।

हिंदू धर्म में संपत्ति की भावना संचय न करने और लगाव न रखने के सिद्धांत के कारण उदार है। लेकिन कट्टरपंथी हिंदू कर्म-सिद्धांत की इस प्रकार व्याख्या करता है कि धन और जन्म या शक्ति का स्थान ऊँचा है और जो कुछ है वही ठीक भी है। संपत्ति का मौजूदा सवाल कि मिल्कियत निजी हो या सामाजिक, हाल ही का है। लेकिन संपत्ति की स्वीकृत व्यवस्था या संपत्ति से कोई लगाव न रखने के रूप में यह सवाल हिंदू दिमाग में बराबर रहा है। अन्य सवालों की तरह संपत्ति और शक्ति के सवालों पर भी हिंदू दिमाग अपने विचारों को उनकी तार्किक परिणति तक भी नहीं ले जा पाया। समय और व्यक्ति के साथ हिंदू धर्म में इतना ही फर्क पड़ता है कि एक या दूसरे को प्राथमिकता मिलती है।

आम तौर पर यह माना जाता है कि सहिष्णुता

हिंदुओं का विशेष गुण है। यह गलत है, सिवाय इसके कि खुला रक्तपात अभी तक उसे पसंद नहीं रहा। हिंदू धर्म में कट्टरपंथी हमेशा प्रभुताशाली मत के अलावा अन्य मतों और विश्वासों का दमन कर के एकरूपता के द्वारा एकता कायम करने की कोशिश करते रहे हैं लेकिन उन्हें भी सफलता नहीं मिली। उन्हें अब तक आम तौर पर बचपना ही माना जाता था क्योंकि कुछ समय पहले तक विविधता में एकता का सिद्धांत हिंदू धर्म के अपने मतों पर ही लागू किया जाता था, इसलिए हिंदू धर्म में लगभग हमेशा ही सहिष्णुता का अंश बल प्रयोग से ज्यादा रहता था, लेकिन यूरोप की राष्ट्रीयता ने इससे मिलते-जुलते जिस सिद्धांत को जन्म दिया है, उससे इसका अर्थ समझ लेना चाहिए। वाल्टेयर जानता था कि उसका विरोधी गलती पर ही है, फिर भी वह सहिष्णुता के लिए, विरोधी के खुल कर बोलने के अधिकार के लिए लड़ने को तैयार था। इसके विपरीत हिंदू धर्म में सहिष्णुता की बुनियाद यह है कि अलग-अलग बातें अपनी जगह पर सही हो सकती हैं। वह मानता है कि अलग-अलग क्षेत्रों और वर्गों में अलग-अलग सिद्धांत और चलन हो सकते हैं, और उनके बीच वह कोई फैसला करने को तैयार नहीं। वह आदमी की जिंदगी में एकरूपता नहीं चाहता, स्वेच्छा से भी नहीं, और ऐसी विविधता में एकता चाहता है जिसकी परिभाषा नहीं की जा सकती, लेकिन जो अब तक उसके अलग-अलग मतों को एक लड़ी में पिरोती रही है। अत: उसमें सहिष्णुता का गुण इस विश्वास के कारण है कि किसी की जिंदगी में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, इस विश्वास के कारण कि अलग-अलग बातें गलत ही हों यह जरूरी नहीं है, बल्कि वे सच्चाई को अलग-अलग ढंग से व्यक्त कर सकती हैं।

कट्टरपंथियों ने अक्सर हिंदू धर्म में एकरूपता की एकता कायम करने की कोशिश की है। उनके उद्देश्य कभी बुरे नहीं रहे। उनकी कोशिशों के पीछे अक्सर शायद स्थायित्व और शक्ति की इच्छा थी, लेकिन उनके कामों के नतीजे हमेशा बहुत बुरे हुए। मैं भारतीय इतिहास का एक भी ऐसा काल नहीं जानता जिसमें कट्टरपंथी हिंदू धर्म भारत में एकता या खुशहाली ला सका हो। जब भी भारत में एकता या खुशहाली आई, तो हमेशा वर्ण, स्त्री, संपत्ति, सहिष्णुता आदि के संबंध में हिंदू धर्म में उदारवादियों का प्रभाव अधिक था। हिंदू धर्म में कट्टरपंथी जोश बढ़ने पर हमेशा देश सामाजिक और राजनैतिक दृष्टियों से टूटा है और भारतीय राष्ट्र में, राज्य और समुदाय के रूप में बिखराव आया है। मैं नहीं कह सकता कि ऐसे सभी काल जिनमें देश टूट कर छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया, कट्टरपंथी प्रभुता के काल थे, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि देश में एकता तभी आई जब हिंदू दिमाग पर उदार विचारों का प्रभाव था।

आधुनिक इतिहास में देश में एकता लाने की कई बड़ी कोशिशें असफल हुई। ज्ञानेश्वर का उदार मत शिवाजी ओर बाजीराव के काल में अपनी चोटी पर पहुँचा, लेकिन सफल होने के पहले ही पेशवाओं की कट्टरता में गिर गया। फिर गुरु नानक के उदार मत से शुरू होनेवाला आंदोलन रणजीत सिंह के समय अपनी चोटी पर पहुँचा, लेकिन जल्दी ही सिक्ख सरदारों के कट्टरपंथी झगड़ों में पतित हो गया। ये कोशिशें, जो एक बार असफल हो गई, आजकल फिर से उठने की बड़ी तेज कोशिशें करती हैं, क्योंकि इस समय महाराष्ट्र और पंजाब से कट्टरता की जो धारा उठ रही है, उसका इन कोशिशों से गहरा और पापपूर्ण आत्मिक संबंध है। इन सब में भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए पढ़ने और समझने की बड़ी सामग्री है जैसे धार्मिक संतों और देश में एकता लाने की राजनैतिक कोशिशों के बीच कैसा निकट संबंध है या कि पतन के बीज कहाँ हैं, बिल्कुल शुरू में या बाद की किसी गड़बड़ी में या कि इन समूहों द्वारा अपनी कट्टरपंथी असफलताओं को दुहराने की कोशिशों के पीछे क्या कारण है? इसी तरह विजयनगर की कोशिश और उसके पीछे प्रेरणा निंबार्क की थी या शंकराचार्य की, और हम्पी की महानता के पीछे कौन-सा सड़ा हुआ बीज था, इन सब बातों की खोज से बड़ा लाभ हो सकता है। फिर, शेरशाह और अकबर की उदार कोशिशों के पीछे क्या था और औरंगजेब की कट्टरता के आगे उनकी हार क्यों हुई?

देश में एकता लाने की भारतीय लोगों और महात्मा गांधी की आखिरी कोशिश कामयाब हुई है, लेकिन आंशिक रूप में ही। इसमें कोई शक नहीं कि पाँच हजार वर्षों से अधिक की उदारवादी धाराओं ने इस कोशिश को आगे बढ़ाया, लेकिन इसके तत्कालीन स्रोत में, यूरोप के उदारवादी प्रभावों के अलावा क्या था – तुलसी या कबीर और चैतन्य और संतों की महान परंपरा या अधिक हाल के धार्मिक-राजनैतिक नेता जैसे राममोहन राय और फैजाबाद

के विद्रोही मौलवी? फिर, पिछले पाँच हजार सालों की कट्टरपंथी धाराएँ भी मिल कर इस कोशिश को असफल बनाने के लिए जोर लगा रही हैं और अगर इस बार कट्टरता की हार हुई, तो वह फिर नहीं उठेगी।

केवल उदारता ही देश में एकता ला सकती है। हिंदुस्तान बहुत बड़ा और पुराना देश है। मनुष्य की इच्छा के अलावा कोई शक्ति इसमें एकता नहीं ला सकती। कट्टरपंथी हिंदुत्व अपने स्वभाव के कारण ही ऐसी इच्छा नहीं पैदा कर सकता, लेकिन उदार हिंदुत्व कर सकता है, जैसा पहले कई बार चुका है। हिंदू धर्म, संकुचित दृष्टि से, राजनैतिक धर्म, सिद्धांतों और संगठन का धर्म नहीं है। लेकिन देश के राजनैतिक इतिहास में एकता लाने की बड़ी कोशिशों को इससे प्रेरणा मिली है और उनका यह प्रमुख माध्यम रहा है। हिंदू धर्म में उदारता और कट्टरता के महान युद्ध को देश की एकता और बिखराव की शक्तियों का संघर्ष भी कहा जा सकता है।

लेकिन उदार हिंदुत्व पूरी तरह समस्या का हल नहीं कर सका। विविधता में एकता के सिद्धांत के पीछे सड़न और बिखराव के बीज छिपे हैं। कट्टरपंथी तत्वों के अलावा, जो हमेशा ऊपर से उदार हिंदू विचारों में घुस आते हैं और हमेशा दिमागी सफाई हासिल करने में रुकावट डालते हैं, विविधता में एकता का सिद्धांत ऐसे दिमाग को जन्म देता है जो समृद्ध और निष्क्रिय दोनों ही है। हिंदू धर्म का बराबर छोटे-छोटे मतों में बँटते रहना बहुत बुरा है, जिनमें से हरेक अपना अलग शोर मचाए रखता है और उदार हिंदुत्व उनको एकता के आवरण में ढँकने की चाहे जितनी भी कोशिश करे, वे अनिवार्य ही राज्य के सामूहिक जीवन में कमजोरी पैदा करते हैं। एक आश्चर्यजनक उदासीनता फैल जाती है। कोई इन बराबर होनेवाले बँटवारों की चिंता नहीं करता जैसे सबको यकीन हो कि वे एक-दूसरे के ही अंग हैं। इसी से कट्टरपंथी हिंदुत्व को अवसर मिलता है और शक्ति की इच्छा के रूप में चालक शक्ति मिलती है, हालाँकि उसकी कोशिशों के फलस्वरूप और भी ज्यादा कमजोरी पैदा होती है।

उदार और कट्टरपंथी हिंदुत्व के महायुद्ध का बाहरी रूप आजकल यह हो गया है कि मुसलमानों के प्रति क्या रुख हो। लेकिन हम एक क्षण के लिए भी यह न भूलें कि यह बाहरी रूप है और बुनियादी झगड़े जो अभी तक हल नहीं हुए, कहीं अधिक निर्णायक हैं। महात्मा गांधी की हत्या, हिंदू-मुस्लिम झगड़े की घटना उतनी नहीं थी जितनी हिंदू धर्म की उदार व कट्टरपंथी धाराओं के युद्ध की। इसके पहले कभी किसी हिंदू ने वर्ण, स्त्री, संपत्ति और सहिष्णुता के बारे में कट्टरता पर इतनी गहरी चोटें नहीं की थीं। इसके खिलाफ सारा जहर इकट्ठा हो रहा था। एक बार पहले भी गांधी जी की हत्या करने की कोशिश की गई थी। उस समय उसका खुला ओर साफ उद्देश्य यही था कि वर्ण व्यवस्था को बचा कर हिंदू धर्म की रक्षा की जाए। आखिरी और कामयाब कोशिश का उद्देश्य ऊपर से यह दिखाई पड़ता था कि इस्लाम के हमले से हिंदू धर्म को बचाया जाए, लेकिन इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को कोई संदेह नहीं होगा कि यह सब से बड़ा और सब से जघन्य जुआ था, जो हारती हुई कट्टरता ने उदारता से अपने युद्ध में खेला। गांधी जी का हत्यारा वह कट्टरपंथी तत्व था जो हमेशा हिंदू दिमाग के अंदर बैठा रहता है, कभी दबा हुआ और कभी प्रकट, कुछ हिंदुओं में निष्क्रिय और कुछ में तेज। जब इतिहास के पन्ने गांधी जी की हत्या को कट्टरपंथी-उदार हिंदुत्व के युद्ध की एक घटना के रूप में रखेंगे और उन सभी पर अभियोग लगाएँगे जिन्हें वर्णों के खिलाफ और स्त्रियों के हक में, संपत्ति के खिलाफ और सहिष्णुता के हक में, गांधी जी के कामों से गुस्सा आया था, तब शायद हिंदू धर्म की निष्क्रिता और उदासीनता नष्ट हो जाए।

अब तक हिंदू धर्म के अंदर कट्टर और उदार एक-दूसरे से जुड़े क्यों रहे और अभी तक उनके बीच कोई साफ और निर्णायक लड़ाई क्यों नहीं हुई, यह एक ऐसा विषय है जिस पर भारतीय इतिहास के विद्यार्थी खोज करें तो बड़ा लाभ हो सकता है। अब तक हिंदू दिमाग से कट्टरता कभी पूरी तरह दूर नहीं हुई, इसमें कोई शक नहीं। इस झगड़े का कोई हल न होने के विनाशपूर्ण नतीजे निकले, इसमें भी कोई शक नहीं। जब तक हिंदुओं के दिमाग से वर्ण-भेद बिल्कुल ही खत्म नहीं होते, या स्त्री को बिल्कुल पुरुष के बराबर ही नहीं माना जाता, या संपत्ति और व्यवस्था के संबंध से पूरी तरह तोड़ा नहीं जाता तब तक कट्टरता भारतीय इतिहास में अपना विनाशकारी काम करती रहेगी और उसकी निष्क्रियता को कायम रखेगी। अन्य धर्मों की तरह हिंदू धर्म सिद्धांतों और बँधे हुए नियमों का धर्म नहीं है बल्कि सामाजिक संगठन का एक ढंग है और यही कारण है कि उदारता और कट्टरता

का युद्ध अभी समाप्ति तक नहीं लड़ा गया और ब्राह्मण-बनिया मिल कर सदियों से देश पर अच्छा या बुरा शासन करते आए हैं जिसमें कभी उदारवादी ऊपर रहते हैं कभी कट्टरपंथी।

उन चार सवालों पर केवल उदारता से काम न चलेगा। अंतिम रूप से उनका हल करने के लिए हिंदू दिमाग से इस झगड़े को पूरी तरह खत्म करना होगा।

इन सभी हल न होनेवाले झगड़ों के पीछे निर्गुण और सगुण सत्य के संबंध का दार्शनिक सवाल है। इस सवाल पर उदार और कट्टर हिंदुओं के रुख में बहुत कम अंतर है। मोटे तौर पर, हिंदू धर्म सगुण सत्य के आगे निर्गुण सत्य की खोज में जाना चाहता है, वह सृष्टि को झूठा तो नहीं मानता लेकिन घटिया किस्म का सत्य मानता है। दिमाग से उठ कर परम सत्य तक पहुँचने के लिए वह इस घटिया सत्य को छोड़ देता है। वस्तुत: सभी देशों का दर्शन इसी सवाल को उठाता है। अन्य धर्मों और दर्शनों से हिंदू धर्म का फर्क यही है कि दूसरे देशों में यह सवाल अधिकतर दर्शन में ही सीमित रहा है, जबकि हिंदुस्तान में यह जनसाधारण के विश्वास का एक अंग बन गया है। दर्शन को संगीत की धुनें दे कर विश्वास में बदल दिया गया है। लेकिन दूसरे देशों में दार्शनिकों ने परम सत्य की खोज में आम तौर पर सांसारिक सत्य से बिल्कुल ही इनकार किया है। इस कारण आधुनिक विश्व पर उसका प्रभाव बहुत कम पड़ा है। वैज्ञानिक और सांसारिक भावना ने बड़ी उत्सुकता से प्रकृति की सारी जानकारी को इकट्ठा किया, अलग-अलग कर के क्रमबद्ध किया और उन्हें एक में बाँधनेवाले नियम खोज निकाले। इससे आधुनिक मनुष्य को, जो मुख्यत: यूरोपीय है, जीवन पर विचार करने का एक खास दृष्टिकोण मिला है। वह सगुण सत्य को, जैसा है वैसा ही बड़ी खुशी से स्वीकार कर लेता है। इसके अलावा ईसाई मत की नैतिकता ने मनुष्य के अच्छे कामों को ईश्वरीय काम का पद प्रदान किया है। इन सब के फलस्वरूप जीवन की असलियतों का वैज्ञानिक और नैतिक उपयोग होता है। लेकिन हिंदू धर्म कभी अपने दार्शनिक आधार से छुटकारा नहीं पा सका। लोगों का साधारण विश्वास भी व्यक्त और प्रकट सगुण सत्य से आगे जा कर अव्यक्त और अप्रकट निर्गुण सत्य को देखना चाहता है। यूरोप में भी मध्य युग में ऐसा ही दृष्टिकोण था लेकिन मैं फिर कह दूँ कि यह दार्शनिकों तक ही सीमित था और सगुण सत्य से इनकार कर के उसे नकली मानता था जबकि आम लोग ईसाई मत को नैतिक विश्वास के रूप में मानते थे और उस हद तक सगुण सत्य को स्वीकार करते थे। हिंदू धर्म ने कभी जीवन की असलियतों से बिल्कुल इनकार नहीं किया बल्कि वह उन्हें एक घटिया किस्म का सत्य मानता है और आज तक हमेशा ऊँचे प्रकार के सत्य की खोज करने की कोशिश करता रहा है। यह लोगों के साधारण विश्वास का अंग है।

एक बड़ा अच्छा उदाहरण मुझे याद आता है। कोणार्क के विशाल लेकिन आधे नष्ट मंदिर में पत्थरों पर हजारों मूर्तियाँ खुदी हुई मिलती हैं। जिंदगी की असलियतों की तस्वीरें देने में कलाकार ने किसी तरह की कंजूसी या संकोच नहीं दिखाया है। जिंदगी की सारी विभिन्नताओं को उसने स्वीकार किया है। उसमें भी एक क्रमबद्ध व्यवस्था मालूम पड़ती है। सब से नीचे की मूर्तियों में शिकार, उसके ऊपर प्रेम, फिर संगीत और फिर शक्ति का चित्रण है। हर चीज में बड़ी शक्ति और क्रियाशीलता है। लेकिन मंदिर के अंदर कुछ नहीं है, और क्रियाशीलता से अंदर की खामोशी और स्थिरता, मंदिर में बुनियादी तौर पर यही अंकित है। परम सत्य की खोज कभी बंद नहीं हुई।

चित्रकला की अपेक्षा वास्तुकला और मूर्तिकला के अधिक विकास की भी अपनी अलग कहानी है। वस्तुतरू जो प्राचीन चित्र अब भी मिलते हैं, वास्तुकला पर ही आधारित हैं। संभवतरू परम सत्य के बारे में अपने विचारों को व्यक्त करना चित्रकला की अपेक्षा वास्तुकला और मूर्तिकला में ज्यादा सरल है।

अत: हिंदू व्यक्तित्व दो हिस्सों में बँट गया है। अच्छी हालत में हिंदू सगुण सत्य को स्वीकार कर के भी निर्गुण परम सत्य को नहीं भूलता और बराबर अपनी अंतर्दृष्टि को विकसित करने की कोशिश करता रहता है, और बुरी हालत में उसका पाखंड असीमित होता है। हिंदू शायद दुनिया का सबसे बड़ा पाखंडी होता है, क्योंकि वह न सिर्फ दुनिया के सभी पाखंडियों की तरह दूसरों को धोखा देता है बल्कि अपने को धोखा दे कर खुद अपना नुकसान भी करता है। सगुण और निर्गुण सत्य के बीच बँटा हुआ उसका दिमाग अक्सर इसमें उसे प्रोत्साहन देता है। पहले, और आज भी, हिंदू धर्म एक आश्चर्यजनक दृश्य प्रस्तुत करता है। हिंदू धर्म अपने माननेवालों को, छोटे-से-छोटे

को भी, ऐसी दार्शनिक समानता, मनुष्य और मनुष्य और अन्य वस्तुओं की एकता प्रदान करता है जिसकी मिसाल कहीं और नहीं मिलती। दार्शनिक समानता के इस विश्वास के साथ ही गंदी से गंदी सामाजिक विषमता का व्यवहार चलता है। मुझे अक्सर लगता है कि दार्शनिक हिंदू खुशहाल होने पर गरीबों और शूद्रों से पशुओं जैसा, पशुओं से पत्थरों जैसा और अन्य वस्तुओं से दूसरी वस्तुओं की तरह व्यवहार करता है। शाकाहार और अहिंसा गिर कर छिपी हुई क्रूरता बन जाते हैं। अब तक की सभी मानवीय चेष्टाओं के बारे में यह कहा जा सकता है कि एक न एक स्थिति में हर जगह सत्य क्रूरता में बदल जाता है और सुंदरता अनैतिकता में, लेकिन हिंदू धर्म के बारे में यह औरों की अपेक्षा ज्यादा सच है। हिंदू धर्म ने सचाई और सुंदरता की ऐसी चोटियाँ हासिल कीं जो किसी और देश में नहीं मिलतीं, लेकिन वह ऐसे अँधेरे गढ़ों में भी गिरा है जहाँ तक किसी और देश का मनुष्य नहीं गिरा। जब तक हिंदू जीवन की असलियतों को, काम और मशीन, जीवन और पैदावार, परिवार और जनसंख्या वृद्धि, गरीबी और अत्याचार और ऐसी अन्य असलियतों को वैज्ञानिक और लौकिक दृष्टि से स्वीकार करना नहीं सीखता, तब तक वह अपने बँटे हुए दिमाग पर काबू नहीं पा सकता और न कट्टरता को ही खत्म कर सकता है, जिसने अक्सर उसका सत्यानाश किया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि हिंदू धर्म अपनी भावधारा ही छोड़ दे और जीवन और सभी चीजों की एकता की कोशिश न करे। यह शायद उसका सबसे बड़ा गुण है। अचानक मन में भर जानेवाली ममता, भावना की चेतना और प्रसार, जिसमें गाँव का लड़का मोटर निकलने पर बकरी के बच्चे को इस तरह चिपटा लेता है जैसे उसी में उसकी जिंदगी हो, या कोई सूखी जड़ों और हरी शाखों के पेड़ को ऐसे देखता है जैसे वह उसी का एक अंश हो, एक ऐसा गुण है जो शायद सभी धर्मों में मिलता है लेकिन कहीं उसने ऐसी गहरी और स्थायी भावना का रूप नहीं लिया जैसा हिंदू धर्म में। बुद्धि का देवता, दया के देवता से बिल्कुल अलग है। मैं नहीं जानता कि ईश्वर है या नहीं है, लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि सारे जीवन और सृष्टि को एक में बाँधनेवाली ममता की भावना है, हालाँकि अभी वह एक दुर्लभ भावना है। इस भावना को सारे कामों, यहाँ तक कि झगड़ों की भी पृष्ठभूमि बनाना शायद व्यवहार में मुमकिन न हो। लेकिन यूरोप केवल सगुण, लौकिक सत्य को स्वीकार करने के फलस्वरूप उत्पन्न हुए झगड़ों से मर रहा है, हिंदुस्तान केवल निर्गुण, परम सत्य को ही स्वीकार करने के फलस्वरूप निष्क्रियता से मर रहा है। मैं बेहिचक कह सकता हूँ कि मुझे सड़ने की अपेक्षा झगड़े से मरना ज्यादा पसंद है। लेकिन विचार और व्यवहार के क्या यही दो रास्ते मनुष्य के सामने हैं? क्या खोज की वैज्ञानिक भावना का एकता की रागात्मक भावना से मेल बैठाना मुमकिन नहीं है, जिसमें एक दूसरे के अधीन न हो और समान गुणोंवाले दो कर्मों के रूप में दोनों बराबरी की जगह पर हों। वैज्ञानिक भावना वर्ण के खिलाफ और स्त्रियों के हक में, संपत्ति के खिलाफ और सहिष्णुता के हक में काम करेगी और धन पैदा करने के ऐसे तरीके निकालेगी जिससे भूख और गरीबी दूर होगी। एकता की सृजनात्मक भावना वह रागात्मक शक्ति पैदा करेगी जिसके बिना मनुष्य की बड़ी-से-बड़ी कोशिशें लोभ, ईर्ष्या, शक्ति और घृणा में बदल जाती हैं।

यह कहना मुश्किल है कि हिंदू धर्म यह नया दिमाग पा सकता है और वैज्ञानिक और रागात्मक भावनाओं में मेल बैठ सकता है या नहीं। लेकिन हिंदू धर्म दरअसल है क्या? इसका कोई एक उत्तर नहीं, बल्कि कई उत्तर हैं। इतना निश्चित है कि हिंदू धर्म कोई खास सिद्धांत या संगठन नहीं है न विश्वास और व्यवहार का कोई नियम उसके लिए अनिवार्य ही है। स्मृतियों और कथाओं, दर्शन और रीतियों की एक पूरी दुनिया है जिसका कुछ हिस्सा बहुत ही बुरा है और कुछ ऐसा है जो मनुष्य के काम आ सकता है। इन सब से मिल कर हिंदू दिमाग बनता है जिसकी विशेषता कुछ विद्वानों ने सहिष्णुता और विविधता में एकता बताई है। हमने इस सिद्धांत की कमियाँ देखीं और यह देखा कि दिमागी निष्क्रियता दूर करने के लिए कहाँ उसमें सुधार करने की जरूरत है। इस सिद्धांत को समझने में आम तौर पर यह गलती की जाती है कि उदार हिंदू धर्म हमेशा अच्छे विचारों और प्रभावों को अपना लेता है चाहे वे जहाँ से भी आए हों, जबकि कट्टरता ऐसा नहीं करती। मेरे खयाल में यह विचार अज्ञानपूर्ण है। भारतीय इतिहास के पन्नों में मुझे ऐसा कोई काल नहीं मिला जिसमें आजाद हिंदू ने विदेशों में विचारों या वस्तुओं की खोज की हो। हिंदुस्तान और चीन के हजारों साल के संबंध में मैं सिर्फ पाँच वस्तुओं के नाम जान पाया हूँ जिनमें सिंदूर भी

है, जो चीन से भारत लाई गई। विचारों के क्षेत्र में कुछ भी नहीं आया।

आजाद हिंदुस्तान का आम तौर पर बाहरी दुनिया से एकतरफा रिश्ता होता था जिसमें कोई विचार बाहर से नहीं आते थे और वस्तुएँ भी कम ही आती थीं, सिवाय चाँदी आदि के। जब कोई विदेशी समुदाय आ कर यहाँ बस जाता और समय बीतने पर हिंदू धर्म का ही एक अंग या वर्ण बनने की कोशिश करता तब जरूर कुछ विचार और कुछ चीजें अंदर आतीं। इसके विपरीत गुलाम हिंदुस्तान और उस समय का हिंदू धर्म विजेता की भाषा, उसकी आदतों और उसके रहन-सहन की बड़ी तेजी से नकल करता है। आजादी में दिमाग की आत्मनिर्भरता के साथ गुलामी में पूरा दिमागी दीवालियापन मिलता है। हिंदू धर्म की इस कमजोरी को कभी नहीं समझा गया और यह खेद की बात है कि उदारवादी हिंदू अज्ञानवश, प्रचार के लिए इसके विपरीत बातें फैला रहे हैं। आजादी की हालत में हिंदू दिमाग खुला जरूर रहता है, लेकिन केवल देश के अंदर होनेवाली घटनाओं के प्रति। बाहरी विचारों और प्रभावों के प्रति तब भी बंद रहता है। यह उसकी एक बड़ी कमजोरी है और भारत के विदेशी शासन का शिकार होने का एक कारण है। हिंदू दिमाग को अब न सिर्फ अपने देश के अंदर की बातों बल्कि बाहर की बातों के प्रति भी अपना दिमाग खुला रखना होगा और विविधता में एकता के अपने सिद्धांत को सारी दुनिया के विचार और व्यवहार पर लागू करना होगा।

आज हिंदू धर्म में उदारता और कट्टरता की लड़ाई ने हिंदू-मुस्लिम झगड़े का ऊपरी रूप ले लिया है लेकिन हर ऐसा हिंदू जो अपने धर्म और देश के इतिहास से परिचित है, उन झगड़ों की ओर भी उतना ही ध्यान देगा जो पाँच हजार साल से भी अधिक समय से चल रहे हैं और अभी तक हल नहीं हुए। कोई हिंदू मुसलमानों के प्रति सहिष्णु नहीं हो सकता जब तक कि वह उसके साथ ही वर्ण और संपत्ति के विरुद्ध और स्त्रियों के हक में काम न करे। उदार और कट्टर हिंदू धर्म की लड़ाई अपनी सबसे उलझी हुई स्थिति में पहुँच गई है और संभव है कि उसका अंत भी नजदीक ही हो। कट्टरपंथी हिंदू अगर सफल हुए तो चाहे उनका उद्देश्य कुछ भी हो, भारतीय राज्य के टुकड़े कर देंगे न सिर्फ हिंदू-मुस्लिम दृष्टि से बल्कि वर्णों और प्रांतों की दृष्टि से भी। केवल उदार हिंदू ही राज्य को कायम कर सकते हैं। अत: पाँच हजार वर्षों से अधिक की लड़ाई अब इस स्थिति में आ गई है कि एक राजनैतिक समुदाय और राज्य के रूप में हिंदुस्तान के लोगों की हस्ती ही इस बात पर निर्भर है कि हिंदू धर्म में उदारता की कट्टरता पर जीत हो।

धार्मिक और मानवीय सवाल आज मुख्यत: एक राजनैतिक सवाल है। हिंदू के सामने आज यही एक रास्ता है कि अपने दिमाग में क्रांति लाए या फिर गिर कर दब जाए। उसे मुसलमान और ईसाई बनना होगा और उन्हीं की तरह महसूस करना होगा। मैं हिंदू-मुस्लिम एकता की बात नहीं कर रहा क्योंकि वह एक राजनैतिक, संगठनात्मक या अधिक से अधिक सांस्कृतिक सवाल है। मैं मुसलमान और ईसाई के साथ हिंदू की रागात्मक एकता की बात कर रहा हूँ, धार्मिक विश्वास और व्यवहार में नहीं, बल्कि इस भावना में कि ''मैं वह हूँ''। ऐसी रागात्मक एकता हासिल करना कठिन मालूम पड़ सकता है, या अक्सर एक तरफ हो सकता है और उसे हत्या और रक्तपात की पीड़ा सहनी पड़ सकती है। मैं यहाँ अमरीकी गृह-युद्ध की याद दिलाना चाहूँगा जिसमें चार लाख भाइयों ने भाइयों को मारा और छह लाख व्यक्ति मरे लेकिन जीत की घड़ी में अब्राहम लिंकन और अमरीका के लोगों ने उत्तरी और दक्षिणी भाइयों के बीच ऐसी ही रागात्मक एकता दिखाई। हिंदुस्तान का भविष्य चाहे जैसा भी हो, हिंदू को अपने आप को पूरी तरह बदल कर मुसलमान के साथ ऐसी रागात्मक एकता हासिल करनी होगी। सारे जीवों और वस्तुओं की रागात्मक एकता में हिंदू का विश्वास भारतीय राज्य की राजनैतिक जरूरत भी है कि हिंदू मुलसमान के साथ एकता महसूस करे। इस रास्ते पर बड़ी रुकावटें और हारें हो सकती हैं, लेकिन हिंदू दिमाग को किस रास्ते पर चलना चाहिए, यह साफ है।

कहा जा सकता है कि हिंदू धर्म में उदारता और कट्टरता की इस लड़ाई को खत्म करने का सब से अच्छा तरीका यह है कि धर्म से ही लड़ा जाए। यह हो सकता है। लेकिन रास्ता टेढ़ा है और कौन जाने कि चालाक हिंदू धर्म, विरोधियों को भी अपना एक अंग बना कर निगल न जाए। इसके अलावा कट्टरपंथियों को जो भी अच्छे समर्थक मिलते हैं, वह कम पढ़े-लिखे लोगों में और शहर में रहनेवालों में। गाँव के अनपढ़ लोगों में तत्काल चाहे जितना भी जोश आ जाए वे उसका स्थायी आधार नहीं बन

सकते। सदियों की बुद्धि के कारण पढ़े-लिखे लोगों की तरह गाँववाले भी सहिष्णु होते हैं। कम्युनिज्म या फासिज्म जैसे लोकतंत्रविरोधी सिद्धांतों से ताकत पाने की खोज में, जो वर्ण और नेतृत्व के मिलते-जुलते विचारों पर आधारित हैं, हिंदू धर्म का कट्टरपंथी अंश भी धर्म-विरोधी का बाना पहन सकता है। अब समय है कि हिंदू सदियों से इकट्ठा हो रही गंदगी को अपने दिमाग से निकाल कर उसे साफ करे। जिंदगी की असलियतों और अपनी परम सत्य की चेतना, सगुण सत्य और निर्गुण सत्य के बीच उसे एक सच्चा और फलदायक रिश्ता कायम करना होगा। केवल इसी आधार पर वह वर्ण, स्त्री, संपत्ति और सहिष्णुता के सवालों पर हिंदू धर्म के कट्टरपंथी तत्वों को हमेशा के लिए जीत सकेगा जो इतने दिनों तक उसके विश्वासों को गंदा करते रहे हैं और उसके देश के इतिहास में बिखराव लाते रहे हैं। पीछे हटते समय हिंदू धर्म में कट्टरता अक्सर उदारता के अंदर छिप कर बैठ जाती है। ऐसा फिर न होने पाए। सवाल साफ हैं। समझौते से पुरानी गलतियाँ फिर दुहराई जाएँगी। इस भयानक युद्ध को अब खत्म करना ही होगा। भारत के दिमाग की एक नई कोशिश तब शुरू होगी जिसमें बौद्धिक का रागात्मक से मेल होगा, जो विविधता में एकता को निष्क्रिय नहीं बल्कि, सशक्त सिद्धांत बनाएगी और जो स्वच्छ लौकिक खुशियों को स्वीकार कर के भी सभी जीवों और वस्तुओं की एकता को नजर से ओझल न होने देगी। (जुलाई, 1950)

बहुलता ही इस देश की ताकत है

मंगलेश डबराल

साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाने वाले कवि मंगलेश डबराल मौजूदा माहौल से बेहद दुखी हैं। उन्हें अभिव्यक्ति की आजादी और देश की विविधता पर बड़ा खतरा मंडराता दिखाई पड़ रहा है। प्रतिरोध स्वरूप उन्होंने अपना पुरस्कार वापस किया है और आगे अपने लेखकीय दायित्व पर डटे रहने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। लेकिन इसी के साथ वे यह भी मानते हैं कि हिंदी इलाके की राजनीति और यहां के समाज में लेखकों के प्रति आदर की कमी है। इसी कमी के कारण यहां वैसा असर नहीं पैदा हो पा रहा है जैसा होना चाहिए। उनसे इंडिया संवाद के कार्यकारी संपादक अरुण कुमार त्रिपाठी ने लंबी बातचीत की। पेश हैं उसके महत्त्वपूर्ण हिस्सेः-

'पुरस्कार लौटाने के तात्कालिक और दीर्घकालिक कारण क्या हैं?

ए.के. रामानुजन के 300 निबंधों की किताब को हटाया गया। वेंडी डोनिगर की किताब हिंदू को प्रतिबंधित किया गया। इस तरह के बहुत से पाठ्य परिवर्तित किए गए। तमाम पाठ्य को 'पल्प' (रद्दी कागज पर छपा भड़काऊ साहित्य) में बदलने का दबाव है। इस देश के तर्कवादी विद्वानों, दाभोलकर, कामरेड गोविंद पनसारे, और कन्नड़ वचना साहित्य के मर्मज्ञ कलबुर्गी की हत्या का सिलसिला चलता रहा। इस बीच दादरी में अखलाक नाम के एक मुस्लिम की अफवाह फैलाकर हत्या कर दी गई। विदेश राज्य मंत्री (वीके सिंह) ने भोपाल के विश्व हिंदी सम्मेलन में लेखकों को न बुलाने के लिए जो वजह बताई वह अपमानजनक थी। उन्होंने कहा कि लेखक शराब पीकर मारपीट करते हैं और फिर वापस चले जाते हैं। उससे पहले कन्नड़ के प्रसिद्ध लेखक अनंतमूर्ति ने जब कहा था कि अगर मोदी इस देश के प्रधानमंत्री बने तो वे भारत में रहना पसंद नहीं करेंगे तो उन्हें पाकिस्तान का हवाई टिकट भेज दिया गया। कुल मिलाकर इस देश में लेखकों और बौद्धिकों के लिए घुटन भरा माहौल बना दिया गया है।

दीर्घकालिक कारण क्या हैं?

दीर्घकालिक कारण यह हैं कि पिछले साल भाजपा सरकार के आने के बाद देश में अल्पसंख्यकों मुस्लिमों, ईसाइयों को तरह तरह से धमकाया जा रहा है। उनके खिलाफ हिंसा की जा रही है। उन्हें हाशिए पर ढकेला जा रहा है। बहुसंख्यकवाद ने अल्पसंख्यकों के खिलाफ एक मोर्चा खोल दिया है। संघ परिवार के फासीवादी एजेंडा को उसके तमाम संगठन तरह-तरह से लागू करने में लगे हैं। हमको लोकतंत्र और संविधान ने जो मूल्य दिए हैं उनका बेशर्मी से उल्लंघन हो रहा है। उसके प्रति सरकार, पार्टी

और उससे जुड़े संगठनों में सम्मान नहीं है। इस देश की राजनीतिक दशा-दिशा चिंताजनक है। विवेक और धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों को हाशिए पर डाला जा रहा है। ऐसे में सवाल उठता है कि लेखक क्या करें?

लेकिन साहित्य अकादमी तो स्वायत्त संस्था है। उसके पुरस्कारों का सरकार से सीधा मतलब नहीं है। यह तो लेखकों द्वारा लेखक को दिया जाने वाला पुरस्कार है।

अब तक साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाने वाले और उसकी सदस्यता छोड़ने वाले लेखकों की संख्या तीस हो चुकी है। कई लेखकों ने उसके पदों से त्याग पत्र दिया है। कृष्णा सोबती ने महत्तर सदस्यता लौटा दी है। वह साहित्य अकादमी का बड़ा सम्मान है। यह सही है कि साहित्य अकादमी राज्य का पुरस्कार नहीं है। जवाहर लाल नेहरू जी ने उसका संविधान ऐसा बनाया कि उसमें सरकार का हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं है। बस अकादमी का खर्च सरकार की धनराशि से चलता है।लेखकों के पास इसके अलावा पुरस्कार लौटाने का कोई कारण नहीं है। लेकिन उसी के साथ यह भी सही बात है कि साहित्य अकादमी कलबुर्गी की हत्या पर और दाभोलकर की हत्या पर खामोश रही है। जबकि कलबुर्गी अकादमी पुरस्कार पाने वाले उसके सदस्य भी रहे हैं। अगर अकादमी ने इन हत्याओं की कठोर शब्दों में निंदा की होती और गहरा सरोकार दिखाया होता तो लेखक पुरस्कार और सदस्यता वापस न करते।

लेकिन डा. नामवर सिंह तो पुरस्कार वापस करने के पक्ष में नहीं हैं। इसी तरह मृदुला गर्ग भी पत्र लिखने और विरोध जताने की बात तो करती हैं लेकिन पुरस्कार वापस करने का समर्थन नहीं करतीं। इस पर क्या कहना है आपका?

डा. नामवर सिंह का यह रुख शायद इसलिए है क्योंकि वे खुद पुरस्कार वापस करना नहीं चाहते। वे पिछले कुछ समय से जो बयान दे रहे हैं उसे देखकर उनके मार्क्सवाद पर गंभीर सवाल खड़े होते हैं। उन बयानों के आधार पर उनकी जनचेतना भी सवालों के घेरे में है। यह सही है कि लेखकों के अलग होने से अकादमी पर सरकारी कब्जा होने का खतरा वास्तविक है। संस्कृति मंत्री महेश शर्मा के जो बयान आए हैं उसमें उन्होंने साहित्य, नाट्य, संगीत, ललित कला अकादमियों के शुद्धीकरण की बात कही है। उनके बयानों से लगता है कि यह संस्कृति मंत्री सांस्कृतिक रूप से अत्यंत दरिद्र है। लेकिन उसी के साथ यह भी सच है कि साहित्य अकादमी का संविधान इतना स्वायत्त है कि उसमें सरकार कोई हस्तक्षेप कर नही सकती। उसके कार्यकारिणी बोर्ड का निर्णय अंतिम है।

फिर अकादमी को लेकर इतनी चिंता क्यों?

अकादमी के हालात अच्छे नहीं हैं। अकादमी ने पिछले दिनों मोदी के स्वच्छता अभियान के बारे में एक कविता पाठ का आयोजन किया। भीष्म साहनी की जन्मशती के मौके पर अकादमी ने एक सेमिनार आयोजित किया जिसमें संस्कृति मंत्री को मुख्य अतिथि के तौर पर बुलाया गया। यह सब इस बात के संकेत हैं कि सरकार अकादमी में घुसपैठ करना चाहती है। इसके प्रति लेखकों को सावधान रहना होगा।

प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है। क्या आपको लगता है कि लेखकों ने यह जो पहल की है उसके प्रति राजनीतिक दलों की तरफ से कोई समर्थन मिलेगा?

प्रेमचंद के इस कथन का बड़ा महत्त्व है। इसे बार-बार उद्धृत भी किया गया है। अंग्रेजी कवि शेली ने भी कहा था कि कवि इस दुनिया के अघोषित कानून निर्माता हैं। दुर्भाग्य से हमारे देश में राजनीति लेखकों का कोई सम्मान नहीं करती। शायद मलयालम, मराठी और बांग्ला की स्थिति कुछ भिन्न है। वहां अच्छे राजनीतिज्ञ लेखकों का सम्मान करते हैं। यह सही है कि हिंदी भाषी विशाल क्षेत्र में लेखकों की आवाज बन ही नहीं पाई है। दुर्भाग्य की बात है कि ऐसा उस इलाके में है जहां हमारी आजादी के एक से एक बड़े नेता निकले। जहां तक आज की राजनीति की बात है तो वह आज का सबसे बड़ा रोजगार है। वह तो व्यापक रूप से अमानवीकृत है। वह समाज को अमानवीयकरण की ओर ले जा रही है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीति एक बहुत बड़ी चीज है। समाज में परिवर्तन तो वही करती है। साहित्य तो एक रास्ता दिखा सकता है। अंधेरे में प्रेमचंद की मशाल की तरह। जनता की राजनीति होगी तो वह समाज को अच्छी राह पर ले जाएगी।

'ऐसी स्थिति में लेखकों के पास समाज के पास जाने और उससे घनिष्ठ संबंध बनाने के अलावा रास्ता क्या है?

लेखक और समाज के बीच आज एक डिस्कनेक्ट (असंपृक्तता) है। इसे कैसे तोड़ा जाए यह एक मुश्किल समस्या है। हिंदी भाषी पचास करोड़ बताए जाते हैं लेकिन

यहां जो किताब बिकती है उसकी संख्या 2000 से ज्यादा नहीं बताई जाती। यह एक बड़ी विडंबना है। हिंदी भाषी जनता निर्धन है।वह महंगी किताब खरीद नहीं सकती। लोगों में पढ़ने की भूख है, अगर किताबें सस्ती हों , जनसाधारण तक पहुंच सकें तो कोई कारण नहीं कि लेखक समाज की प्रेरक शक्ति न बने।

आज लेखक के सामने बड़ी चुनौती क्या है? क्या उसे तमाम तरह के एकरूपीकरण से अलग सच को देखने की विभिन्न दृष्टियों को बचाकर रखना नहीं चाहिए?

एकरूपीकरण का खतरा बढ़ रहा है। भाजपा का एजेंडा है कि वह और बढ़े।सब लोग हिंदू संस्कृति और खानपान को अपनाएं। बाकी धर्मों के लोग अधीन होकर रहें। बल्कि उनके लोग यह खुला नारा देते हुए पाए जाते हैं कि मुसलमानों को दूसरे दर्जे के नागरिक बना दिया जाए। लेकिन हमारा समाज इतना एकहरा है नहीं। उसमें कई संस्कृतियां हैं। कई तरह के रहन सहन हैं। उसमें संस्कृतियों का एक जंगल है। भाषाओं का एक जंगल है। जो समाज इतना जटिल है वहां एकरूपता लागू हो नहीं सकती। ऐसा करना न तो किसी रूप में सही है और न ही संभव है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ 1925 में स्थापित हुआ और अगर एक अत्यंत धार्मिक समाज में वह पूरी तरह कामयाब नहीं हो सका तो बड़ा कारण यही बहुलता है यही बहुवचनीयता है। यहां तक कि हिंदुओं की कोई एक धार्मिक पुस्तक ही नहीं है। इसी स्थिति में भारत की उम्मीद है।

●

साहित्य अकादमी पुरस्कार को लौटाना और न लौटाना

अलका सरावगी

एक लेखक के रूप में मेरी गढ़न निखालिस आदर्श की प्रखर धूप में हुई है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि आजादी की लड़ाई के आदर्शों के निरन्तर क्षय से उपजे पिछली पीढ़ी के गहन अवसाद से सींच कर हुई है। यह लिखते हुए मैं गुरुवत् अशोक सेकसरिया की हजारवीं जिराक्स कॉपी के रूप में भी अपने को रखने का दुस्साहस नहीं कर सकती। बस इतना जरूर दावा कर सकती हूँ कि एक जीवन्त देह से 'सच' की गाथा को लिखने की इच्छा मेरी कलम की स्याही है। भारत के लोकतंत्र को तिल-तिल कर मरते हुए देखने की नियति से गुजरते हुए अशोक सेकसरिया के पोस्ट इमरजैंसी दुख-संताप को बाबरी मस्जिद के ढहाने से गुजरात दंगों के नरसंहार ओर जनता द्वारा एक सांप्रदायिक पार्टी को भारी बहुमत से देश की बागडोर संभलाने तक मैंने तीस वर्षों के लंबे दौर में रूबरू देखा है।

आप ऊपर लिखे को गुरुवंदना की तरह पढ़ सकते हैं, जो हमारी परंपरा रही है। इस क्रम में यह बताना भी जरूरी है कि सैंतीस वर्ष की उम्र में लिखे पहले उपन्यास 'कलि-कथा वाया बाइपास' (1998) को तीन साल बाद जब साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया, तो अशोक सेकसरिया सबसे ज्यादा स्तब्ध ओर दुखी हुए थे। उनका मानना था कि इतनी कम उम्र में इतना बड़ा पुरस्कार लेखक की हत्या कर देगा। मेरा तर्क यह था कि पुरस्कार एक कृति को मिलता है, लेखक को नहीं, ओर यदि एक महज पुरस्कार मुझे ....कर सकता है, तो इसका अर्थ यह है कि मुझमें एक लेखक है ही नहीं। पच्चीस वर्ष की उम्र में दो बच्चों की माँ बनकर एक बड़े संयुक्त परिवार में रहते हुए, जहाँ मुझसे पहले किसी स्त्री ने घर के बाहर की दुनिया या लिखने-पढ़ने की दुनिया में कदम नहीं रखा था, मेरी यात्रा बहुत संघर्षमय न थी तो भी बहुत भाग-दौड़ और थकान से भरी थी। लिख-लिख कर कागज काले करने का अर्थ आस-पास की दुनिया में सबको समझ में नहीं आता था। एक बड़ा पुरस्कार कम-से-कम उतना भर तो मेरे काम को आसान बनाएगा, मुझे लगा था।

बहरहाल, न अशोक जी की बात सच निकली न मेरी। मेरा पाँचवाँ उपन्यास 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' इसी साल प्रकाशित हुआ है। पर साथ ही साहित्य अकादमी पुरस्कार ने मेरे लेखन को आसान नहीं बनाया, क्योंकि बाद की यात्रा में पता चला कि लेखन ही दुनिया में एक ऐसा काम है, जो अनुभव, उम्र और अभ्यास के साथ-साथ और ज्यादा कठिन होता जाता है, आस-पास की दुनिया उसे जरूरी समझे या न समझे।

साहित्य अकादमी पुरस्कार (2001) जब मुझे दिया गया, तब किस पार्टी की सरकार गिरकर किस पार्टी की सरकार बनी है, इसका ख्याल उतना ही मेरे दिमाग में था, जितना मंगल ग्रह पर किस देश का यान उतरनेवाला है। पुरस्कार कमिटी के पैनल पर किस पार्टी के लोग बैठे होंगे, या जो बैठे होंगे, उनकी वफादारी किस राजनैतिक दल की तरफ होगी, यह मुझे न तब पता था, न बाद में मैंने इस बाबत कोई जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की। कोलकाता में रहते हुए दिल्ली के सत्ताकामी जोड़-तोड़-गठबंधन से दूर रहना जीने का ऐसा तरीका था, जो बहुत सहज स्वाभाविक ओर मनचाहा था। इसका अर्थ यह न लगाया जाय कि में किसी स्वप्निल दुनिया में रह रही थी जिसमें 'पार्टनर, तुम्हारी पालिटिक्स क्या है?' का भान न हो। कोलकाता के वाम शासित प्रदेश में रहते हुए पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए किस दल से जुड़ा होना जरूरी है, यह सर्वविदित था। दिल्ली के बौद्धिक जगत में वामपंथी या कांग्रेसी या ढुलमुल यकीन लिए लुढ़कते लोगों के बारे में रघुवीर सहाय पर शोध करते हुए काफी परिचय हो चुका था। 'कलिकथा वाया बाइपास' का पूरा राजनैतिक पाठ कोई चाहे तो कर सकता है। उदाहरण के लिए यह वाक्य देखिए जो उपन्यास के मुख्य किरदार किशोर बाबू अपने मनोचिकित्सक डॉक्टर की परीक्षा करने के लिए पूछते हैं- "बताइए कि राबड़ी देवी ओर सोनिया गाँधी में क्या अंतर है?" डॉक्टर के सोनिया को शिक्षित बताने के जबाब पर उसे पढ़ा-लिखा 'पोलिटिकली' मूर्ख बताते हुए किशोर बाबू कहते हैं- दोनों में अंतर इतना ही है कि एक का पति मुख्यमंत्री था ओर दूसरी का पति प्रधानमंत्री। बाकी कोई अंतर नहीं।" (पृ. 183-184)

यदि साहित्य अकादमी 'स्वायत्त' संस्था न होती तो इसी एक वाक्य के आधार पर दिल्ली में कांग्रेस की सरकार के दौर में 'कलि-कथा वाया बाइपास' को खारिज किया जा सकता था। मुश्किल यह है कि हमने पिछले अड़सठ सालों में जो देश गढ़ा है, उसमें 'स्वायत्त' एक ऐसा शब्द है, जिस पर ठहाके लगाये जा सकते हैं। उसी तर्ज पर जैसे रघुवीर सहाय की कविता में 'निर्धन जनता का शोषण है, कहकर आप हँसे'। हाल में साहित्य साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाने के बारे में किसी ने व्यंग्य में लिखा है, 'सीबीआई ओर साहित्य अकादमी दोनों स्वायत्त संस्थाएँ हैं।" इन्होंने मुक्तिबोध की कविता की याद दिलाई है जो बहुत प्रासंगिक है- हृदय में मेरे ही/प्रसन्नचित्त एक मूर्ख बैठा है/हँस-हँसकर अश्रुपूर्ण, नेत्र हुआ जाता है/कि जगत्... स्वायत्त हुआ जाता है।" आज हम जिस मुकाम पर पहुँचे हैं, वह रास्ता मुक्तिबोध के समय से होकर ही आया है।

सवाल यह है कि लेखक के सामने कौन-कौन से रास्ते हैं? क्या वह चारवाक के देश में बाहर बैठा कहानियाँ लिखता रहे जबकि बगल के घर में बूढ़े लोगों को किसी धर्म के किसी भगवान/खुदा को अपशब्द कहने के लिए सिर में गोली मारी जा रही हो या किसी को गाय/सुअर खाने के लिए भीड़ सरे आम मार डाल रही हो? या वह अरुंधती राय की तरह कहानियाँ लिखना छोड़ दांतेबाड़ा में 'कामरेडों के साथ चलते' जंगल-जंगल घूमे? या वह अपने ही देश की चुनी हुई सरकार के उपरोक्त नृशंस घटनाओं पर चुप्पी साधने ओर उनके परिसर में चल रही 'स्वायत्त' संस्थाओं के अधिकारियों की 'सावधान या डरी हुई चुप्पी' पर नाराज होकर यह घोषित कर दे कि संस्था चूँकि आज 'स्वायत्त' नहीं है, इसलिए उस संस्था का पुरस्कार हम अपने घर में नहीं रख सकते।

जाहिर है कि हर किस्म के प्रतिरोध का अपना महत्व है। पुरस्कार लौटाने वालों ने साहित्य अकादमी के वर्तमान 'टेम्पोरेरी' आकाओं के मन में हलचल न मचाई हो, ऐसा नहीं है। वे कुछ ऊलजलूल सा व्यंग्य भी छोड़ रहे हैं ओर कोई आपातकालीन बैठक भी बुलाई गई है। एक तरफ सलमान रुशदी ओर गोपाल कृष्ण गाँधी जैसे नामी लोग नयनतारा सहगल एवं अन्य लेखकों के पुरस्कार लौटाने का समर्थन कर रहे हैं, तो दूसरी तरफ नामवर सिंह, मृदुला गर्ग जैसे लोग यह चिन्ता कर रहे हैं कि देश में गुंडागर्दी से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को खून या काली स्याही से धमकाने या नष्ट करने के विरोध का यह तरीका साहित्य अकादमी या दूसरी संस्थाओं की 'स्वायत्तता' को बचाने की मुहिम बनेगा या नहीं?

आज हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं जहाँ हर कोई अच्छे या सही काम के लिए भी शक के घेरे में है। हम किसी बड़े आदर्श का समर्थन तो दूर, उसकी भनक लगते ही उसे अपने संदेह से ध्वस्त करने लग जाते हैं। पुरस्कार लौटाने वालों पर मीडिया में चमकने का पब्लिसिटी स्टंट करने, किसी राजनैतिक दल से परिचालित होने, पिछली ऐसी घटनाओं पर चुप रह जाने के आरोप लगाए जा रहे हैं। सच तो यह है कि अभी जिस चमक-धमक और लफ्फाजी के साथ सांप्रदायिक असहिष्णुता को ताकत दी जा रही है और अभिव्यक्ति को घोंटने की चेष्टा की जा रही है, वैसा पहले कभी नहीं हो पाया था। आज सचमुच यह जरूरत है कि संविधान में निरूपित सहिष्णु लोकतंत्र को बचाने के लिए हर तरह का संगठित प्रतिरोध किया जाय। ये गुंडे फेसबुक, ट्विटर से लेकर हर जगह फैले हुए हैं ओर कभी भी किसी भी दरवाजे पर आकर खटखटा सकते हैं ओर गोली, चाकू, काली स्याही फेंक सकते हैं। इन्हें हर हाल में साम-दाम-दंड-भेद से

रोकने की जरूरत है।

अलबत्ता असली मुद्दा उस सामाजिक संस्कृति को बनाने का ही है, जिसमें सोहार्द, सद्भाव और सहिष्णुता पनपें ओर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक महान लक्ष्य की तरह देखी जाए। आखिर वे कौन से कारण हैं कि संविधान, सरकारें, बुद्धिजीवी, दार्शनिक ओर लेखक मिलकर भी उस संस्कृति को बनाने में निष्फल रहे हैं कि आज हमारे डिजिटल इंडिया में धर्म के रक्षक हर जगह तलवारें लिए मध्यकाल की तरह फिर घूमने लगे हैं? धर्म का नैतिकता से विच्छेद तभी होता है जब धर्म की रक्षा को सहज मानव-धर्म के ऊपर रखकर देखा जाता है। क्या आजादी के बाद का भारत का लेखक अपने पाठकवर्ग से वह संवाद बना पाया है कि उसे समझा सके कि ईश्वर या खुदा को इतना कमजोर मत बनाओ कि उसे तुम्हारी हिंसा या आतंक द्वारा रक्षा की जरूरत हो, कि तुम किसी बोले या लिखे गए वाक्य का विरोध शब्दों से करो, बन्दूक से नहीं! आज जो भारत हम अपने आसपास देख रहे हैं, उसे शब्द की ताकत पर यकीन ही नहीं है। उसे यह तर्क समझ में आता है कि गुजरात के 2002 के दंगों के बाद गुजरात में आज तक कोई दंगा नहीं हुआ। हिंसा की ताकत में भरोसा रखनेवाले पुरस्कारों को लौटाने के पीछे की पीड़ा या प्रतिरोध के इस अहिंसात्मक तरीके का मखोल ही बना सकते हैं।

लेखक के रूप में हमारी चिन्ता यह है कि हम किसी तरह से अभिव्यक्ति की आजादी को एक जीवन-मूल्य की तरह समाज के ताने-बाने में बुन सकते, शब्द की ताकत को वापस लौटा सकें (धर्म को एक व्यक्तिगत जीवनशैली की तरह वृहत् समाज के जीवन से अलगा सकें (हिंसा को किसी भी बुनियाद पर जायज मानने से रोक सकें। हमारी संस्थाओं की 'स्वायत्तता' एक स्वस्थ राजनैतिक दर्शन ओर जागृत समाज में ही संभव है। मौजूदा स्खलन को रोकने के हमारे प्रतिरोध के रचनात्मक तरीके यहीं से निकलेंगे।

(15 अक्टूबर, 2015)

मैं पुरस्कार क्यों लौटा रही हूँ : अरुंधति रॉय

हालांकि मैं यह नहीं मानती कि पुरस्कार हमारे काम को मापने का कोई पैमाना होते हैं, मैं लौटाए गए पुरस्कारों के बढ़ते ढेर में 1989 में सर्वश्रेष्ठ पटकथा के लिए जीता गया अपना राष्ट्रीय पुरस्कार जोड़ना चाहूंगी। इसके अलावा, मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि मैं यह पुरस्कार इसलिए नहीं लौटा रही हूँ क्योंकि मैं मौजूदा सरकार द्वारा पोसी जा रही उस चीज को देखकर 'हैरान' हूँ जिसे 'बढ़ती असहिष्णुता' कहा जा रहा है। सबसे पहले तो यह कि इंसानों की पीट-पीट कर हत्या, उन्हें गोली मारने, जलाकर मारने और उनकी सामूहिक हत्या के लिए 'असहिष्णुता' गलत शब्द है। दूसरे, भविष्य में क्या होने वाला है इसके कई संकेत हमें पहले ही मिल चुके थे, इसलिए इस सरकार के भारी बहुमत से सत्ता में आने के बाद जो कुछ हुआ उसके लिए मैं हैरान होने का दावा नहीं कर सकती। तीसरे, ये भयावह हत्याएँ एक गंभीर बीमारी का लक्षण भर हैं। जीते-जागते लोगों की जिंदगी नर्क बनकर रह गई है। करोड़ों दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों और ईसाइयों की पूरी-पूरी आबादी दहशत में जीने के लिए मजबूर है कि क्या पता कब और किस तरफ से उनपर हमला बोल दिया जाए।

आज हम एक ऐसे देश में रह रहे हैं जिसमें नई व्यवस्था के ठग और गिरोहबाज जब 'अवैध वध' की बात करते हैं तो उनका मतलब कत्ल कर दिए गए जीते जागते इंसान से नहीं, मारी गई एक काल्पनिक गाय से होता है। जब वे घटनास्थल से 'फॉरेंसिक जांच के लिए सबूत' उठाने की बात करते हैं तो उनका मतलब मार डाले गए आदमी की लाश से नहीं, फ्रिज में मौजूद भोजन से होता है। हम कहते हैं कि हमने 'प्रगति' की है लेकिन जब दलितों की हत्या होती है और उनके बच्चों को जिंदा जला दिया जाता है तो हमला झेले, मारे जाने, गोली खाए या जेल जाए बिना आज कौन सा लेखक बाबासाहब अम्बेडकर की तरह खुलकर कह सकता है कि, 'अछूतों के लिए हिंदुत्व संत्रासों की एक वास्तविक कोठरी है'? कौन लेखक वह सब कुछ लिख सकता है जो सआदत हसन मंटो ने 'अंकल सैम के लिए पत्र' में लिखा? इस बात से फर्क नहीं पड़ता कि हम कही जा रही बात से सहमत हैं या असहमत। यदि हमें स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अधिकार नहीं होगा तो हम बौद्धिक कुपोषण से पीड़ित एक समाज में, मूर्खों के एक देश में बदलकर रह जाएंगे। पूरे उपमहाद्वीप में पतन की एक दौड़ चल रही है जिसमें नया भारत भी जोशो खरोश से शामिल हो गया है। यहां भी अब सेंसरशिप भीड़ को आउटसोर्स कर दी गई है।

मुझे बहुत खुशी है कि मुझे (काफी पहले के अपने अतीत से कहीं) एक राष्ट्रीय पुरस्कार मिल गया है जिसे मैं लौटा सकती हूँ क्योंकि इससे मुझे देश के लेखकों, फिल्मकारों और शिक्षाविदों द्वारा शुरू किए गए एक राजनीतिक आंदोलन का हिस्सा होने का मौका मिल रहा है। वे एक प्रकार की वैचारिक क्रूरता और हमारी सामूहिक बौद्धिकता पर हमले के विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं। यदि इसका मुकाबला हमने अभी नहीं किया तो यह हमें टुकड़े-टुकड़े कर बहुत गहरे दफन कर देगा। मेरा मानना है कि कलाकार और बुद्धिजीवी इस समय जो कर रहे हैं वह अभूतपूर्व है जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं है। यह अलग साधनों से की जा रही राजनीति है। इसका हिस्सा होना मेरे लिए गर्व की बात है। और आज इस देश में जो हो रहा है, उसपर मैं बहुत शर्मिंदा भी हूँ।

पुनश्च रिकार्ड के लिए यह भी बता दूँ कि 2005 में कांग्रेस की सत्ता के दौरान मैंने साहित्य अकादमी सम्मान ठुकरा दिया था। इसलिए कृपया कांग्रेस बनाम भाजपा वाली पुरानी बहस से मुझे बख्शे रहें। अब बात इस सबसे काफी आगे निकल गई है। धन्यवाद!

अनुवाद : मनोज पटेल

<u>प्रिय-अप्रिय</u>

क्योंकि सत्ता का प्रतिपक्ष बनाता है लेखक

प्रियदर्शन

प्रोफेसर कलबुर्गी की हत्या से लेकर दादरी तक को लेकर लेखकों के संगठित प्रतिरोध के बाद साहित्य अकादेमी ने जो बयान जारी किया है, उसे वरिष्ठ कवि विष्णु खरे क्रांतिकारी बता रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि आम तौर पर पुरस्कारों, अनुवादों और दो पत्रिकाओं के बीच ऊंघती अकादेमी ने शायद पहली बार लेखकीय विरोध के दबाव में ऐसा वक्तव्य जारी कर अपने जीवित होने के प्रमाण दिए हैं। बेशक, लेखकों की यह शिकायत अपनी जगह जायज है कि अकादेमी ने यह वक्तव्य देने में बहुत देर की, प्रोफेसर कलबुर्गी के लिए शोकसभा करने की उनकी मांग नहीं मानी और इस विरोध के दौरान अकादेमी अध्यक्ष ने जो अशालीन वक्तव्य दिए, उनको लेकर उनकी आलोचना नहीं की गई। फिर भी लेखकों का यह प्रतिरोध इस मायने में सफल रहा कि इसने अभिव्यक्ति की आजादी और बहुलतावादी सह-अस्तित्व के मुद्दे पर देशव्यापी ध्यान खींचा।

मगर इस क्रम में लेखकों को जो यह तोहमत झेलनी पड़ी कि उनका यह पूरा विरोध प्रायोजित है और उनसे जो यह सवाल पूछा गया कि इसके पहले उन्होंने इमरजेंसी या ऐसी दूसरी बड़ी घटनाओं का विरोध क्यों नहीं किया, इसका निराकरण जरूरी है। दरअसल यह तोहमत फिर से यही साबित करती है कि हम मूलत: ऐसे छिछले समाज में बदलते जा रहे हैं जो बीते हुए संघर्षों को याद तक नहीं करता, क्योंकि उसके लिए राजनीति और सत्ता सबसे बड़े मूल्य, सबसे बड़ा सच है। जो लोग पूछ रहे हैं कि इमरजेंसी के दौरान लेखकों और बुद्धिजीवियों की क्या भूमिका थी, वे पलट कर वे किताबें पढ़ लें जिनमें आपातकाल के ढेर सारे ब्योरे हैं। 19 महीनों के इस पूरे दौर में राजनीतिक नेताओं के अलावा सबसे ज्यादा उत्पीड़न लेखकों और पत्रकारों ने झेला। तब भी हिंदी लेखक फणीश्वरनाथ रेणु ने पद्मश्री वापस की और कन्नड़ लेखक शिवराम कारंत ने पद्मभूषण लौटाया। लेकिन इमरजेंसी के उस दौर में सम्मान लौटाना एक मामूली बात थी। फणीश्वर नाथ रेणु और नागार्जुन जैसे बड़े उपन्यासकार और कवि जेल में थे। हंसराज रहबर, गिरधर राठी, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, सुरेंद्र मोहन, रघुवंश, कुमार प्रशांत, कुलदीप नैयर जैसे कई बड़े लेखक और पत्रकार थे जिन्हें इमरजेंसी के दौरान जेल काटनी पड़ी। दरअसल नेताओं के अलावा यह लेखकों, पत्रकारों और प्राध्यापकों की ही जमात थी जिसने इमरजेंसी के खिलाफ सबसे तीखी लड़ाई लड़ी। कहने की जरूरत नहीं कि यह कांग्रेस विरोधी लहर थी जिसमें संघ के लोग भी शरीक थे। लेकिन अब वे याद करने को तैयार नहीं हैं कि लेखकों की जो बिरादरी आज उनके खिलाफ खड़ी है वह इमरजेंसी के खिलाफ भी थी। इसी दौर में भवानी प्रसाद मिश्र जैसे गांधीवादी कवि भी थे जिन्होंने आपातकाल के विरोध में रोज सुबह-दोपहर-शाम एक कविता लिखने का निश्चय किया था और यथासंभव इसे निभाया। बाद में इन कविताओं का संग्रह 'त्रिकाल संध्या' के नाम से प्रकाशित हुआ, जिसकी

कुछ कविताएं अपने ढंग से सत्ता और इंदिरा पर बेहद तीखी चोट करती हैं।

1984 की सिख विरोधी हिंसा के विरोध में भी खुशवंत सिंह जैसे कांग्रेस समर्थक लेखक ने पद्मभूषण वापस किया था। बेशक, वह हिंसा ख़ौफनाक और शर्मनाक दोनों थी, लेकिन उसे राज्य की वैचारिकी का वैसा समर्थन हासिल नहीं था जैसा इन दिनों कई तरह के हिंसक और हमलावर विचारों को मिलता दिखाई पड़ता है। फिर भी अपने-अपने शहरों में लेखकों ने प्रतिरोध किए, राहत देने की कोशिश की और उस विवेक का बार-बार आह्वान किया जो लोकतंत्र के लिए जरूरी है। चाहें तो याद कर सकते हैं कि उसी दौर में अवतार सिंह पाश जैसा क्रांतिकारी कवि हुआ जिसने इंदिरा गांधी की मौत के बाद बेहद तीखी कविता लिखी- 'मैंने उसके ख़िलाफ जीवन भर लिखा और सोचा है' आज उसके शोक में सारा देश शरीक है तो उस देश से मेरा नाम काट दो। 'मैं उस पायलट की धूर्त आंखों में चुभता हुआ भारत हूं' अगर उसका अपना कोई भारत है तो उस भारत से मेरा नाम काट दो।' यह अलग बात है कि अवतार सिंह पाश को कविता पढ़ते हुए आतंकवादियों ने गोली मार दी। दरअसल इस पूरे दौर में लेखकीय और बौद्धिक प्रतिरोध अपने चरम पर दिखता है। पंजाब में गुरुशरण सिंह जैसा नाटककार है जो जनवादी मूल्यों के पक्ष में और आतंकवादियों के ख़िलाफ बेख़ौफ लड़ता रहा। इसी दौर में सफदर हाशमी मारे जाते हैं और पूरे देश की सांस्कृतिक आत्मा जैसे सुलग उठती है। छोटे-बड़े शहरों के नुक्कड़ों पर प्रतिरोध की सभाएं सजने लगती हैं। 1989 में जब गैरकांग्रेसी दल राष्ट्रीय बंद का आह्वान करते हैं तो राजनीतिक दलों के समानांतर सांस्कृतिक जत्थे भी पुलिस की लाठियां सहते हैं और जेल जाते हैं। 1992 में मुंबई के दंगों में राजदीप सरदेसाई अपनी रिपोर्ट्स में कांग्रेस और एनसीपी की विफलता पर सवाल खड़े करते हैं और श्रीकृष्ण आयोग की रिपोर्ट इन खबरों का भरपूर हवाला देती है।

जाहिर है, यह सारा विरोध कांग्रेसी सरकारों के ख़िलाफ था जिसमें बेशक, कुछ समाजवादी और वाम वैचारिकी की भूमिका थी, मगर उसका राजनीतिक या सत्तामूलक समर्थन नहीं था। लेकिन नब्बे के दशक में जब बीजेपी ने सांप्रदायिकता के राक्षस को नए सिरे से खड़ा किया तो विरोध की धूरी कांग्रेस से मुड़कर बीजेपी की तरफ चली आई। 2002 की गुजरात की हिंसा के खिलाफ बहुत सारी कविताएं लिखी गईं। मंगलेश डबराल की सुख्यात कविता 'गुजरात के मृतक का बयान' जितनी बड़ी राजनीतिक कविता है, उससे कहीं ज्यादा बडी मानवीय कविता है। मंगलेश अपनी मद्धिम आवाज में लिखते हैं- 'और जब मुझसे पूछा गया तुम कौन हो? क्या छिपाए हो अपने भीतर एक दुश्मन का नाम? कोई मजहब कोई ताबीज? मैं कुछ नहीं कह पाया मेरे भीतर कुछ नहीं था। सिर्फ एक रंगरेज एक मिस्त्री एक कारीगर एक कलाकार। जब मैं अपने भीतर मरम्मत कर रहा था किसी टूटी हुई चीज की। जब मेरे भीतर दौड़ रहे थे, अल्युमिनियम के तारों की साइकिल के नन्हे पहिये। तभी मुझ पर गिरी एक आग बरसे पत्थर और जब मैंने आख़िरी इबादत में अपने हाथ फैलाये। तब तक मुझे पता नहीं था बंदगी का कोई जवाब नहीं आता।' गुजरात की इसी हिंसा के त्रासद पहलुओं को लेकर असगर वजाहत 'शाह आलम की रूहें' जैसी नायाब किताब तैयार कर देते हैं।

बहरहाल, लेखकीय प्रतिरोध की यह सूची बहुत लंबी है। वह सिर्फ बीजेपी विरोधी नहीं है। कुछ ही साल पहले हिंदी के वरिष्ठ लेखक कृष्ण बलदेव वैद को लेकर दिल्ली की शीला दीक्षित सरकार के रवैये से नाराज सात लेखकों ने अपने हिंदी अकादमी सम्मान लेने से इनकार कर दिया था। जाहिर है, लेखन सत्ता का वह प्रतिपक्ष बनाता है जिससे कभी कांग्रेस नाराज होती है कभी बीजेपी। मगर एक ऐसे दौर में जब बाजार की चमक-दमक एक हिंसक भव्यता के साथ एक समृद्ध भारत का मिथक रच रही है, जब आर्थिक संपन्नता को छोड़कर बाकी सारे मूल्य पुराने मान कर छोड़ दिए गए हैं, जब घर-परिवार और समाज तार-तार होते दिख रहे हैं, जब सारी लोकतांत्रिक संस्थाएं क्षरण की शिकार हैं, जब ज्ञान के दूसरे अनुशासन- समाजशास्त्र, इतिहास या अर्थशास्त्र सत्ता की जी हुजूरी करते नजर आ रहे हैं, तब यह साहित्य ही है जो इस पूरी प्रक्रिया का अपने दम पर प्रतिरोध कर रहा है। उसकी खिल्ली उड़ाई जा रही है, उसे बाजार से बाहर बताया जा रहा है, उसे पहचान और मान्यता देने से इनकार किया जा रहा है, उसे बिल्कुल अप्रासंगिक सिद्ध किया जा रहा है, मगर उसकी मद्धिम आवाज जब एक सामूहिक लय धारण करती है, जब उसका कातर प्रतिरोध अपने पुरस्कार छोड़ने का इकलौता सुलभ विकल्प आजमाता है, तब भी सत्ता के पांव कांपते हैं, वह उसे अविश्वसनीय साबित करने में जुट जाती है। जाहिर है, वह इस लेखन की स्मृति को खारिज करना चाहती है इसलिए पूछती है कि पहले तुमने विरोध क्यों नहीं किया।

●

श्री शेखर पाठक का राष्ट्रपति को पत्र

महोदय,

मैं हिमालय क्षेत्र के उत्तराखण्ड प्रान्त का वासी हूँ और कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल में शिक्षक रहा। मैंने कुछ काम हिमालयी इतिहास, सामाजिक आन्दोलन, स्वतंत्रता संग्राम और भौगोलिक अन्वेषण के इतिहास पर किया और अभी भी इसमें जुटा हूँ। हिमालयी समाज, संस्कृति, इतिहास और पर्यावरण पर केन्द्रित प्रकाशन **पहाड़** को मैं अपने साथियों के साथ संपादित करता रहा हूँ। भारतीय लोक भाषा सर्वेक्षण के कार्य से भी मैं जुड़ा रहा। मेरा किसी राजनैतिक पार्टी से सम्बन्ध नहीं है। लेकिन लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा समता में मेरा अगाध विश्वास है। मैं जनान्दोलनों का समर्थक और हिस्सेदार रहा हूँ।

2007 में मुझे शिक्षा तथा साहित्य के लिए पद्मश्री सम्मान दिया गया था, जिसे मैंने तत्कालीन राष्ट्रपति स्व. ए.पी.जे. अबुल कलाम साहब के हाथों प्राप्त किया था। मैं इसे राष्ट्र द्वारा दिया गया बहुत बड़ा सम्मान मानता हूँ। अब मैं अत्यन्त रंज के साथ इस सम्मान को लौटा रहा हूँ। क्योंकि मेरे पास प्रतिकार का कोई और अस्त्र नहीं है। निम्न चार कारण इसके पीछे हैं—

1. देश में जिस तरह असहिष्णुता और नफरत का महौल बनाया जा रहा है, स्वतंत्रचेता विचारकों की हत्या की जा रही है और हमारी 'भारतीय पहचान' के बदले धार्मिक और साम्प्रदायिक पहचान को सामने लाया जा रहा है, वह किसी भी आम भारतवासी की तरह मुझे अस्वीकार्य है। इतने विविधता भरे, सदियों में विकसित विभिन्न विचारों, दर्शनों, प्रतिरोधों और सृजनशीलताओं वाले मेरे देश में, जो सामन्ती व्यवस्था, औपनिवेशिक शासन, विभाजन और तमाम जातीय और साम्प्रदायिक दंगों के दंश सहकर भी अपनी जगह खड़ा था और तमाम जातीय और साम्प्रदायिक दंघों के दंश सहकर भी अपनी जगह खड़ा था और धीमे ही सही आगे बढ़ रहा था, एकाएक इतनी अधिक असहिष्णुता पैदा कर दी जायेगी और विचारों की अभिव्यक्ति को रोकने की कोशिश होगी या विचारकों और साहित्यकारों की हत्या का विरोध कर रहे साहित्यकारों, फिल्मकारों, वैज्ञानिकों और इतिहासकारों का उपहास किया जायेगा, यह सोचा भी न था। चाहे एम.एम. कलबुर्गी, नरेन्द्र दाभोलकर या गोविन्द पानसरे की हत्या हो; मेरठ, दादरी या अन्यत्र के काण्ड हो, सुधीन्द्र कुलकर्णी पर स्याही फेंकना हो या उस्ताद गुलाम अली को मुम्बई में प्रस्तुति करने से रोकना हो ये सब फासीवादी पद्धतियाँ हैं, जिनके साथ अपने अलावा किसी भी और आवाज को न सुनने का अपराध जुड़ा है। मैं इन शर्मनाक घटनाओं पर अपना रोष प्रकट करता हूँ।

2. डॉ. एम.एम. कलबुर्गी (तथा अन्य स्वतंत्रचेता विद्वानों) की खुले आम हत्या की तो सर्वत्र निन्दा होनी चाहिए थी। डा. कलबुर्गी शरण साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान तथा कन्नड़ भाषा के उन्नायक भी थे। साहित्य अकादमी का इससे कतराना शर्मनाक था। यों तो किसी भी निरीह की हत्या का विरोध होना चाहिए पर साहित्य अकादमी अपने ही साहित्यकार की हत्या पर मूक हो जाय, यह कोई सोच भी नहीं सकता। साहित्यकारों द्वारा जब इसके विरोध में वक्तव्य दिये गये या साहित्य अकादमी के द्वारा दिये गये सम्मान लौटाये गये तो जिम्मेदार लोगों द्वारा उनका मजाक उड़ाया गया और स्वतंत्रचेता व्यक्तित्वों पर शक किया गया। यह अत्यन्त अपमानजनक है।

मैं इन तमाम साहित्यकारों, इतिहासकारों, फिल्मकारों और वैज्ञानिकों का सम्मान करता हूँ। कई मामलों में मैं उनसे असहमत भी हो सकता हूँ (यह भी मैंने उनसे सीखा है) पर मुझे उन पर नाज है। अपने देश को जानने में उनकी कृतियाँ और कार्य मददगार रहे हैं। इन प्रतिभाओं का मजाक उड़ाना प्रकारान्तर में इस देश की सृजनशीलता और विविधता का मजाक उड़ाने जैसा है। मैं इसका विरोध करता हूँ।

3. हमारी संस्थाओं का पतन तो पहले ही शुरू हो गया था (दिल्ली विश्वविद्यालय तो आपकी आँखों के सामने, नीचे आया है) पर आज उसे और भी नीचे ले जाया जा रहा है। जिस तरह भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों, राष्ट्रीय शिक्षा अनुसंधान तथा प्रशिक्षण परिषद; राष्ट्रीय फिल्म टेलीविजन संस्थान और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान आदि संस्थानों की स्वायत्तता को ताक पर रखा गया है, स्वतंत्रचेता व्यक्तियों पर तरह-तरह के दबाव डाले गये हैं और कतिपय संस्थाओं में दोयम दर्जे के लोगों को लाया गया है, वह आपत्तिजनक है। यह संस्थाओं की स्वायत्तता पर हस्तक्षेप तथा देशी प्रतिभाओं का अनादर है। यह देश के समग्र विकास के रास्ते का रोड़ा भी है। सत्ता के समीप रहने वाले या सत्ता के आनुषांगिक संगठनों के व्यक्ति पहले भी लाभ पाते रहे थे पर अब यह क्रम बढ़ गया है। देश की स्वतंत्र चेता प्रतिभाओं को नकारा जा रहा है। मैं इसका भी विरोध करता हूँ।

4. 1990 के बाद इस देश को जिस तरह खगोलीकरण, निजीकरण और कारपोरेटीकरण का शिकार होना पड़ा है उससे कोई भी अपरिचित और अप्रभावित नहीं है।

आम जनता/समुदायों की जमीन, जंगल, जल संस्थान और वनों को जिस तरह लूटा जा रहा है और इस सबसे बड़े गणतंत्र की चुनी हुई सरकारों द्वारा जिस तरह कारपोरेट शक्तियों के सामने आत्मसमर्पण किया गया और किया जा रहा है उससे संसाधन तो नष्ट हो ही रहे हैं, लोग विस्थापित हो रहे हैं, गरीब-अमीर की खाई बढ़ रही है। कुछ लोग अत्यन्त समृद्ध और शक्तिशाली होते जा रहे हैं और सर्वजनहित नकारा जा रहा है। वनवासियों, जनजातियों, पर्वतवासियों, मछुआरों, किसानों हरेक का जीवन कठिन होता जा रहा है। जैसे विक्रय और मुनाफे के अलावा मनुष्य या राष्ट्र के जीवन में कोई और लक्ष्य ही न हो।

मैं हिमालय का अदना सा बेटा हूँ। जिस तरह से यहाँ के संसाधनों की लूट बढ़ी है, वह मुझे बेचैन करती है। एक अत्यन्त युवा और अभी भी बन रहे हिमालय पर्वत में अवैज्ञानिक खनन करना, नदियों के प्रवाह को बाधित करना, बिना वांछित जाँच-पड़ताल के बड़े-बड़े बाँध बनाना, जंगल और खेती की जमीन को गैर वन्य या गैर खेती के कामों में इस्तेमाल करना, वन्य जीवों का विनाश तथा जंगलों का कटान करना तथा सार्वजनिक भूमि को (पनघट, गोचर आदि) बड़े पिछली एक सदी से कम या ज्यादा अवधि में कोई बड़ा भूकंप नहीं आया है और जहा निकट भविष्य में भूकंप अवश्यम्भावी है) में होने को भुलाया जा रहा है।

2013 की पश्चिमी नेपाल, उत्तराखण्ड और पूर्वी हिमाचल की आपदा से सीखने से भी इन्कार किया जा रहा है। जिन-जिन कारणों से यह महाआपदा आई, उन्हें ही फिर अपनाया जा रहा है। गंगा जैसी पावन नदी (यह ध्यान रहे कि उत्तराखण्ड और हिमाचल का छोटा-सा हिस्सा ही गंगा का भारतीय हिमालयी जलागम है) के साथ राजनीति की जा रही है। उत्तराखण्ड में बड़े बाँधों के बाबत भारतीय वन्य जीव संस्था, आई.आई.टी. कनसोर्टियम तथा रवि चोपड़ा कमेटी (ये तीनों कमेटियाँ सरकार द्वारा बनाई गई थीं) द्वारा दिये गये सुझावों को ताक पर रख कर वैज्ञानिक अध्ययनों और प्रमाणों की अवहेलना की जा रही है। इसी तरह उत्तराखण्ड प्रान्त की निर्विवाद राजधानी गैरसैण में स्थापित करने में आम जनता से जो छल किया जा रहा है, वह भी मेरी पीड़ा का कारण है।

बहुमत के साथ आई केन्द्र तथा प्रान्त की नई सरकारें अपनी पूर्ववर्ती सरकारों से हिमालय की लूट के मामले में और आगे जा रही हैं। मैं भारतीय हिमालय के महत्वपूर्ण क्षेत्र उत्तराखण्ड की उपेक्षा का विरोध करता हूँ।

आपको कष्ट देने के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

हिमालय से समस्त शुभकानाओं के साथ,

विनीत,

(शेखर पाठक)

वार्ता के लिए लिखें

आज दुनिया में काफी उथल-पुथलमची हैं। कई तरह के संकट पैदा हो रहे हैं। इनके खिलाफ असंतोष, बेचैनी, आंदोलन और विद्रोह भी काफी व्यापक है। किंतु इनको समझने और आगे बढ़ाने के लिए विचार-विश्लेषण भी जरूरी है। वैचारिक प्रक्रिया बगैर विरोध और विद्रोह के दिशाहीन होकर भटक जाएगी।इसी संदर्भ में सामयिक वार्ता का महत्व है, विचार, विश्लेषण, संवाद और विमर्श के एक मंच के रूप में। हम यह चाहते हैं कि इसमें व्यापक भागीदारी हो और यह थोड़े से बुद्धिजीवियों का बुद्धि विलास बनकर न रह जाए।इस देश में हिंदी का क्षेत्र बहुत बड़ा है।वार्ता देश के हर कोने में पहुँचे, यह हमारी इच्छा है। जनांदोलनों के कार्यकर्ताओं के लिए वार्ता वैचारिक शिक्षण और जानकारियों का स्रोत बने, यह भी इच्छा है। हम चाहते हैं कि वार्ता की भाषा पांडित्यपूर्ण होने के बजाए सरल, सहज और ऐसी हो कि साधारण पढ़े-लिखे लोग आसानी से समझ सकें। गहन विषयों और विमर्श को भी सरलभाषा में पेश किया जा सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है।

हम सामयिक वार्ता के विषयों का दायरा बढ़ाने और उसमें ज्यादा विविधता लाना चाहते हैं। राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र और जनांदोलनों के साथ हम इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य, फिल्म, रंगमंच, विज्ञान, पर्यावरण, कानून, मानव अधिकार, खेलआदि जीवन के विविध पहलुओं को भी छूना चाहते हैं।लेखों के अलावा रपट, बातचीत, समीक्षा, डायरी, कविता आदि को भी हम वार्ता का हिस्सा बनाना चाहते हैं। इसकी कुछ झलक वार्ता के पिछले अंकों में मिली होगी।मोटे तौर पर गाँधी, लोहिया, जयप्रकाश, आंबेडकर की धारा से जुड़े होने के बावजूद हम वैचारिक रूप से ज्यादा खुलेपन की वार्ता में गुंजाइश रखना चाहते हैं और विविध वैचारिक धाराओं के बीच संवाद और स्वस्थ बहस को भी बढ़ाना चाहते हैं। दुनिया में जहाँ भी इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के नए प्रयोग हो रहे हैं, उनकी जानकारी देना और विचार-मनन के लिए पेश करना भी हम अपना काम मानते हैं। आज मीडिया तेजी से कॉर्पोरेट मीडिया बनता जा रहा है। मुनाफे की पूजा के चक्कर में मीडिया में विचार की जगह बची ही नहीं है और एक तरह के अराजनीतिकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। वैकल्पिक मीडिया की जरूरत आज और ज्यादा बढ़गई है। इस संदर्भ में भी सामयिक वार्ता का महत्व है।

आशा है कि आपका सहयोग इस प्रयास में मिलता रहेगा। आप हमें अपनी रचना डाक या ई-मेल से भेज सकते हैं।

लोकतंत्र, समाजवाद और कल्याणकारी राज्य या स्वराज

महेश विक्रम

भाग एक
पूँजी और बाजार की चमक

इधर टेलीविज़न देखते हुए पहली बार जब एक विज्ञापन पर मेरा ध्यान गया तो मुझे इस बात पर ज़रा भी आश्चर्य नहीं हुआ कि उसमें व्यापार के विस्तार को समस्त मानव जाति के विकास और प्रसन्नता की दिशा में एक अभियान के रूप में प्रचारित किया जा रहा था । निसन्देह, हमारे चारों ओर बाजार है, वह हमारे घरों में घुस चुका है, हमारे शयनकक्ष और रसोई तक हमारे पीछे खड़ा है, पैसे की बचत और वस्तुओं को जुटाने की हमारी निजता का अतिक्रमण कर चुका है और हमारे पारिवारिक एवं सामाजिक रिश्तों और वातावरण में भी दखल दे रहा है। पिछली लगभग दो शताब्दियों से विश्व स्तर पर हम लगातार तकनीकि और पूँजी के तीव्र विकास और नगरों की अकल्पनीय चकाचौंध, यातायात और सूचना सम्प्रेषण के नए तंत्र एवं साधनों तथा उससे सम्बन्धित ऐश्वर्य का अनुभव या अवलोकन करते रहे हैं। विश्व व्यापार संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण इस भूमण्डल के किसी भी कोने में प्राप्त होने वाली वस्तुओं और सुविधाओं को विश्व के सभी लोगों तक पहुँचाने के लिए बेचैन हैं और वह पूरे जोर से राष्ट्रीय स्तर के व्यापारिक अवरोधों को समाप्त कराने हेतु राष्ट्रों की सरकारों पर दबाव डालने में लगे हैं। इस नए वैश्वीकरण एवं उदारीकरण का वास्तविक उद्येश्य भी यही प्रचारित किया गया है जो हममें से ऐसे कई लोगों को पर्याप्त आकर्षक लग सकता है जो इस खेल में भागीदार बन चुके हैं या जो किनारे बैठकर इस दौड़ में अपनी बारी आने का इन्तज़ार कर रहे हैं।

पुन: राष्ट्रों की जीडीपी की व्यापार से सम्बद्धता और सट्टा बाजार और आम चुनावों तक के परस्पर सम्बन्ध राष्ट्रों की अर्थ व्यवस्था पर पूँजी और बाजार की ताकतों के नियंत्रण को प्रमाणित करने के लिए काफ़ी हैं। इधर हमारे देश में इस बात का डंका पीटा जा रहा है कि जहां एक ओर चीन का कारोबार खतरे में है वहीं हमारी जीडीपी लगातार बढ़ी है और भारत दुनिया के उभरते देशों में सबसे तेज विकास दर वाला देश बन गया है। विदेशियों को भी 'मेक इन इंडिया' का नारा लुभा रहा है और एक ग्लोबल कन्सल्टेंसी फर्म 'ईवाई' और अनेक अन्य व्यावसायिक सर्वेक्षणों के अनुसार हमारा देश बाहरी कम्पनियों को अपने पूँजी निवेश के लिए सर्वाधिक आकर्षक स्थल प्रतीत हो रहा है जिसका कारण उन्हें यहां से अपने मुनाफ़े अधिक से अधिक अपने पास रखने या ले जाने की छूट का बढ़ना और सरकारों द्वारा उन्हें हर तरह की सुविधा और सुरक्षा प्रदान करते रहने का वादा है।

पूँजीवादी दावों के अन्तर्विरोध: बढ़ती असमानताएँ एवं आतंकवादी खतरे

परन्तु, व्यापार के वैश्वीकरण और स्वतंत्रता और उदारीकरण का निहितार्थ वास्तव में उन व्यापारिक अवरोधों एवं नियमों को हटाया जाना है जो आम तौर पर पूर्व में राष्ट्रों ने अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर आम जनता के हित में लागू किए थे। यह बड़ी विडम्बना है कि वैश्वीकरण और उदारीकरण की यह धारा राष्ट्रों की सरकारों से यह भी अपेक्षा रखती है कि वह इस तथाकथित विकास एवं बाजार के गलत् व्यवहारों के आड़े आने वाले अपनी ही जनता के विरोध के स्वरों को दबाने की भूमिका भी निभाएँ। इसलिए यह सब व्यापारिक शक्तियों एवं कॉर्पोरेट के हित में स्वयं जनता द्वारा चुनी गई सरकारों द्वारा अपनी ही जनता के जीवन और सम्पत्ति के किसी भी मूल्य पर किया जा रहा है। वहीं इससे प्रभावित समूहों को अक्षम एवं अयोग्य करार करते हुए यह माना जा रहा है कि उन्हें कुछ मुआवज़ा देकर अथवा उनमें से कुछ को इस तथाकथित विकास के अभिकरणों और उनकी परियोजनाओं के सेवार्थ उपयुक्त कोई नौकरी देकर संतुष्ट किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति या समूह इस मुख्यत: आत्मघाती विकास के विरुद्ध बहस खड़ी करने या चेताने का प्रयत्न करता है तो उसे विकास का विरोधी, निराशावादी और हमेशा नकारात्मक सोच रखने वाला कह कर धिक्कार दिया जाता है। दूसरी ओर सरकारें बाजार की इन ताकतों और उनके अन्तर्राष्ट्रीय

अभिकरणों के अनुरूप कानून बनाने या संशोधित करने और उनका 'हिज़ मास्टर्स वॉयस' बनने में गर्व अनुभव करती दिखाई दे रही हैं।

यह भी रोचक है कि व्यापार के विस्तार और उसे समृद्ध किए जाने का अभियान नौकरियों के विस्तार और लोगों के जीवन स्तर के उन्नयन के नारे से भी जुड़ा है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना ज़रूरी होगा कि व्यापार मुनाफ़े पर टिका होता है और उसने हमेशा से किसान, कारीगर और मजदूर के श्रम या मानव संसाधन का दोहन किया है। जबकि आज व्यापार ने एक नया स्वरूप ग्रहण कर लिया है जो पारम्परिक मानव संसाधन पर अपनी निर्भरता समाप्त करने के लिए नई तकनीकि और आधुनिक प्रकार के 'गुलाम सेवकों' का उपयोग कर मूल उत्पादकों और निर्माताओं को विस्थापित करने में लगा है जिससे अधिक से अधिक लोगों के कमजोर या ग़रीब होते जाने और गुलाम सेवकों की स्थिति में आते जाने की संभावना और बढ़ी है। गुलाम सेवकों से हमारा अभिप्राय ऐसे धिक्कृत् शिल्पच्युत और आधुनिक मापदण्डों पर अयोग्य माने गए लोगों से तो है ही जिनके पास उनके श्रम के मोल-भाव की क्षमता नहीं रह गई है, उन कुछ पढ़े-लिखे और व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित कर्मियों से भी है जो व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की आवश्यकतानुसार उनके व्यापार के मुनाफ़े में मामूली हिस्सेदार बना दिए जाते हैं और जब चाहे निकाले-रखे जा सकते हैं।

यह सत्य है कि प्राकृतिक आपदाओं की चुनौती तथा जीवनयापन और सुख सुविधा की खोज में मानव सभ्यता नए नए उपकरणों और तकनीकि के विकास के साथ शताब्दियों से संघर्ष करती और उनका समाधान ढूंढती आयी है। परन्तु उसने प्रकृति के साथ हमेशा मैत्रीभाव ही रखा और उसके जल, जंगल और पहाड़ों को इस प्रकार चुनौती कभी नहीं दी जैसी कि वह आज देने में लगी है। कृषि के लिए जंगलों की कटाई के बावजूद मानव बस्तियाँ पर्याप्त रूप से वनों एवं पशु-पक्षियों से हरी-भरी होती रहीं। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं को भी संयम में रखा और सभी प्रचलित धर्म पद्धतियों ने भी उस पर जोर दिया। आज यह बाजार एक झटके में सब कुछ लूट लेना चाहता है। इसके लिए उसे प्रकृति और पर्यावरण को नष्ट करने मे कोई गुरेज़ नहीं है। उसे भावी पीढ़ियों की भी चिन्ता नहीं है और अपनी इस लिप्सा में उसने मानव सभ्यता के अस्तित्व को ही चुनौती देने वाली अनेक प्रकार की मानव जनित आपदाओं को भी जन्म दे दिया है।

बाजार के इस दबाव का ही एक परिणाम वर्तमान में 'खाओ, पिओ और मौज करो' की संस्कृति में प्रकट हुआ है जिसमें दूसरे मनुष्यों और प्रकृति एवं पर्यावरण की बिलकुल भी चिन्ता न करते हुए 'ऋणम् कृत्वा घृतम् पिबेत' की प्रवृत्ति सम्मिलित है। मनुष्य में आत्मकेन्द्रित सुख और सुविधा की भावना का इस अमानवीय स्तर तक बढ़ना कि जो भी वस्तु उसकी अपनी न हो या किसी दूसरे की हो उसकी परवाह न करना अथवा उसे भी प्राप्त करने की लालसा रखना, यहाँ तक कि यदा-कदा सामुदायिक या राष्ट्रीय सेवा के कार्यो में अपनी सहभागिता के प्रचार हेतु उसका नाटकीय प्रदर्शन यह सब बाजार के काले जादू का प्रभाव जैसा ही है। पुन: व्यापारिक लाभों की होड़ में यह वैश्वीकरण विश्व के किसी भी कोने में प्रचलित अपसंस्कृति को सभी समाजों तक पहुँचाने में भी लगा है क्योंकि इसमें संस्कृति भी एक व्यापारिक उत्पाद बना दी गई है।

इस आर्थिक पृष्ठभूमि में जहां सम्पूर्ण विश्व में लोगों के मन में किसी न किसी वजह से आकुलता और भय का उद्वेग बना हुआ है, जिसमें वस्तुओं को प्राप्त करने की अधीरता या बढ़ती हुई आवश्यकता, आर्थिक समृद्धि की दौड़ में पीछे रह जाने का भय, व्यक्तिगत या सामूहिक महत्वाकाँक्षाएं, परस्पर ईर्ष्याएं, असुरक्षा, विस्थापन और पलायन, शोषण, जीवन के स्रोतों अथवा सुखों से वंचित होना, अन्याय, अपने और दूसरों के बारे में असम्यक एवं अवैज्ञानिक धारणाएं, अपने ही देश में विदेशी अथवा गैर संस्कृति समूहों द्वारा दबा दिए जाने या उनके संख्यात्मक रूप से प्रबल हो जाने की वास्तविक या काल्पनिक आशंकाएं आदि सभी कुछ सम्मिलित है, इससे मानवता के लिए घृणा का वैश्विक संकट पैदा हो गया है। यह घृणा अनेक प्रकार के अमानवीय कृत्यों और हिंसक व्यवहारों तथा जातीय/नस्लीय और साम्प्रदायिक या राजनीतिक आतंकवाद और संकटों में अभिव्यक्त हो रही है। श्वेत विश्व में यह नस्लीय समस्या के रूप में पुन: सिर उठा रही है तो एशिया और अफ्रिका में यह ऊपरी तौर पर हिंसक साम्प्रदायिक राजनीति के रूप में प्रकट हुई है। उत्तरी अफ्रिका में बोको हराम, पश्चिमी एवं मध्य एशिया में इस्लामिक स्टेट, तालिबान, अल कायदा, भारत में हिन्दू उग्रवादी संगठन, पूर्वोत्तर राज्यों में बोडो आदि और फिर नक्सल आतंकवाद इसके बड़े उदाहरण हैं।

संकटों से निपटने के पूँजीवादी तरीके:

शहर के मध्यम वर्गीय नागरिकों को कभी-कभी खुले

रूप से दिख जाने वाली सरकार की संस्थाओं और नीतियों या कार्यक्रमों के दुष्प्रबन्धन, भ्रष्टाचार, दुर्व्यवहार एवं अव्यवस्थित संचालन जैसे पानी और बिजली की आपूर्ति, सड़क और नागरिक यातायात, स्कूल और अस्पताल जैसी नागरिक सुविधाओं की खराब स्थिति, डिब्बाबन्द या खुले खाद्य एवं पेय पदार्थों में हानिकारक मिलावट और इन सबसे अधिक बढ़ते हुए अपराधों के विरुद्ध चिन्ताग्रस्त या उद्विग्न होते और उसमें सुधारों की मांग करते देखा-सुना जा सकता है। परन्तु इसका परिणाम अधिक से अधिक सरकार का संचालन कर रहे राजनीतिक दलों के हटने हटाने तक ही सीमित रहता है और इस स्थिति और दुर्व्यवस्था के मूल कारणों की समझ से इसका कुछ भी लेना देना नहीं होता। निसन्देह, इधर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर मानवीय मूल्यों तथा नागरिक व्यवहार के अनुपालन, गरीबी के उन्मूलन, सामान्य स्वास्थ्य और शिक्षा के उपक्रमों के साथ ही आतंकित समूहों के बड़ी संख्या में पलायन और बहुसंख्यक लोगों की असहाय स्थिति के प्रति चिन्ता के स्वर भी मुखरित होते दिख रहे हैं। जबकि इसके विपरीत इतिहास की दिशा बेलगाम लालचों और धन एवं ऐश्वर्य के लिए शक्ति प्राप्त करने की भूख के साथ पैदा हो चुके भ्रष्टाचार और अपराध के ऐसे भयावह स्वरूप को ही प्रदर्शित कर रही है जिसके कारणों और समाधानों को समझ पाना वर्तमान के किसी भी सरकारी तंत्र या नेतृत्व के बस में नहीं लगता। उल्टे वह स्वयं इस गोरखधन्धे का हिस्सा बने बैठे हैं और शक्तिशाली व्यवसाइयों या उनके अभिकरणों से जुड़कर बाह्य और आन्तरिक दोनों ही रूप से नए प्रकार के उपनिवेशवाद को चलाने और आम लोगों को अधिकाधिक वंचित करने के साथ ही प्राकृतिक सम्पदा और पर्यावरण के अविचारित दोहन का माध्यम बने हुए हैं। यह तथ्य भी रोचक है कि हममे से भी कई स्वयं शक्ति और समृद्धि अर्जित कर लेने पर अपने देश में अपने ही हमवतनों के साथ अभिजात्यीय, सामन्तीय या औपनिवेशिक प्रभुओं जैसा व्यवहार करते देखे जा सकते हैं।

ध्यान देने की बात है कि वर्तमान में मानव के संकट के समाधान के जो भी तरीके सोचे या अपनाए जा रहे हैं वह सभी पूँजीवादी विचार की ही उपज हैं। इसमें स्वयंसेवी गैरसरकारी संगठनों (एनजीओ) का चलन और यदा-कदा समाज-कल्याण कार्यक्रमों जैसे स्वास्थ्य, शौच और शिक्षा के सार्वजनिक उपक्रमों आदि के लिए राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय एवं तकनीकि सहायता सम्मिलित है। निश्चित ही इसमें समाजों के बीच असमानता और अमानवीय स्थितियों के मूल कारणों के निवारण की कोई दृष्टि नहीं होती जबकि लगातार व्यापक होती पूँजीवादी व्यवस्था के कारण ही यह समस्या और गहराती जा रही है। विडम्बना यह भी है कि हमारी राष्ट्रीय सरकारें स्वयं ही अब देश के अन्दर या बाहर के निजी व्यावसायिक प्रतिष्ठानों या कम्पनियों से स्वास्थ्य और शिक्षा संस्थानों के निर्माण की अपेक्षा कर रही हैं और अनुत्पादकता या दुर्बल कार्यक्षमता का हवाला देते हुए सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों या अन्य संस्थानों के अराष्ट्रीयकरण या उनके वित्तीय विनिवेश अथवा निजी हाथों में हस्तान्तरण के द्वारा उनसे हाथ खींचने में लगी हैं। पुन: वह निजी व्यवसाइयों को (ध्यान रहे, जनता या उसके स्थानीय सामुदायिक/सहकारी संगठन नहीं) 'सार्वजनिक- निजी-सहभागिता' (पीपीपी) नाम से चलाए जा रहे विकास के नए नुस्खे में भागीदारी का न्यौता भी दे रही हैं जो स्वयं में सार्वजनिक धन (बैंकों के माध्यम से दिए गए ऋण) एवं स्रोतों व संसाधनों (प्राकृतिक स्रोत जैसे जल, जंगल, जमीन, पहाड़ और खदान अथवा पूर्व से ही जनता द्वारा निर्मित सार्वजनिक भवन तथा अन्य संस्थान एवं उद्यम) को उन्हें उपलब्ध करा कर मुनाफ़ा कमवाने का एक नया तरीका है, वह भी समाज और राष्ट्र की सेवा के नाम पर !

भयानकता के चरम पर पहुँच चुके विश्वव्यापी आतंकवाद के सम्बन्ध में भी विकसित पश्चिमी शक्तियों की समझ है कि वह अपने पूँजीवादी मोर्चे और उन्नत सैन्य क्षमता के बल पर उसका मुकाबला करने में सक्षम हैं। यह एक विरोधाभास ही है कि इस प्रकार के आतंकवादी संगठन स्वयं असमानता और विस्थापन और लोभ पर टिकी पूँजीवादी प्रणाली का प्रतिउत्पाद हैं और उसकी यौद्धिक तकनीकि या शस्त्रास्त्रों के खुले या चोर व्यापार से ही लाभ पाते रहे हैं। कतिपय ऊपरी सांस्कृतिक व्यवहारों को छोड़ दें तो हमारे जैसे देश में प्रतिक्रियावादी हिन्दू ताकतों को बाजार की ताकतों से प्रत्यक्षत: हाथ मिलाए देखा जा सकता है।

इस प्रकार यह पूरी तरह पूँजीवादी जाल और उसका प्रति या सहउत्पाद ही है। यह सब कदाचित इसलिए शुरू हुआ क्योंकि सामान्य रूप से व्यवहृत रहीं लोकतांत्रिक एवं समाजवादी प्रणालियों से एक कल्याणकारी राज्य की प्राप्ति का स्वप्न पूरा होता नहीं दिखाई दिया। इस हिसाब से हमारे पास माल्थस के प्राकृतिक जनसंख्या नियंत्रण के सिद्धान्त पर निर्भर रहने के सिवाय अब कोई रास्ता नहीं बचा है। अगर यह

केवल कृषि और प्राथमिक आवश्यकताओं के लिए वस्तुओं के निर्माण जैसे आधारभूत क्षेत्र में अतिरिक्त उत्पादन औार उसके सहज एवं सम्यक वितरण का मामला होता तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही सन्दर्भों में कमोबेश यह सभी नागरिकों तक अवश्य पहुँचता। परन्तु ऐसा बिलकुल नहीं दिखाई देता अन्यथा जैसा कि बताया और अनुभव किया जाता रहा है कि पूरी दुनिया के केवल 20 प्रतिशत सम्पन्न लोग ही इस नक्षत्र के सम्पूर्ण अतिरिक्त उत्पादन एवं सुविधाओं के 80 प्रतिशत का उपभोग करते हैं जबकि शेष 80 प्रतिशत जनता बचे हुए 20 प्रतिशत पर ही निर्भर होती है जिनमें से एक बड़ी संख्या वचितों की होनी स्वाभाविक है। और यदि वह पूरी निराशाओं के बावजूद कल्याणकारी कार्यक्रमों पर निर्भर हैं तो प्रश्न उठता है कि आखिर व्यापार का यह हो-हल्ला क्या और किसके लिए है और वह भी हमारे जैसे एक विकासशील देश में जहाँ गहरी असमानता हो और आधी से अधिक जनसंख्या घनघोर गरीबी में जी रही हो - यह अलग बात है कि हमारे गरीबी के पैमाने बहुत से गरीबों को भी सम्पन्नता की श्रेणी में रख देंगे। हाल ही में नोबल पुरस्कार से सम्मानित अर्थशास्त्री एंगस डिटॉन ने विशेष रूप से 1990 के दशक से भारत में आर्थिक सुधारों के नाम पर हुए बहुप्रचारित आर्थिक विकास के सापेक्ष यहां गरीबी का आंकलन करते हुए बताया है कि उस अनुपात में गरीबी कम नहीं हुई। उनके मुताबिक इसकी जड़ आर्थिक विकास और गरीबी के लिए एकत्र किए गए आंकड़ों का अन्तर्विरोध है। जबकि निकोलस क्रिस्टॉफ ने न्यूयार्क टाइम्स में अपनी इस बार की भारत यात्रा के बाद लिखा कि भारत एक मजबूत लोकतंत्र है, जो मंगल तक अपना उपग्रह भेज चुका है। पर यहां के बच्चे अफ्रिका के निर्धनतम देशों की तुलना में कहीं ज्यादा कुपोषित हैं। लोकतंत्र की गम्भीर विफलता का प्रतिनिधित्व करता भारत वैश्विक कुपोषण का केंद्र बन गया है। सरकारी आंकड़ों के (दूसरे आंकड़े तो और भी ऊंचे हैं) मुताबिक 39 फीसदी भारतीय बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। क्या उन्हें उस पुराने पूँजीवादी तर्क के अनुसार अनन्त काल तक इसका इन्तज़ार करते रहना चाहिये कि बड़े पूँजीवादी उद्यमों (कॉर्पोरेट या शक्तिशाली निजी व्यवसायियों द्वारा संचालित बड़ी खेती, बड़े उद्योग और बड़े व्यवसाय) की सम्पन्नता छनते छनते कभी उन तक भी पहुँचेगी !

(अगले अंक में जारी)

नवउदारवादी अर्थव्यवस्था में विषमता की चौड़ी होती खाई

अरुण कुमार त्रिपाठी

(साहित्य-वार्ता द्वारा हर साल आयोजित किशन पटनायक स्मृति व्याख्यान में इस बार सजप के वरिष्ठ साथी अरुण कुमार त्रिपाठी द्वारा दिया गया व्याख्यान)

आदरणीय अध्यक्ष महोदय और उपस्थित महानुभावो, किशन पटनायक स्मारक व्याख्यान देते हुए मुझे आदर, स्नेह और दायित्व की अनुभूति हो रही है। किशन जी की स्मृति में हर साल उनकी पुण्य तिथि (27 सितंबर) पर स्मारक व्यााख्याान आयोजित करने के लिए साहित्य वार्ता के साथी साधुवाद के पात्र हैं। उनके लिए यह रस्म अदायगी नहीं है। वे नवउदारवाद और उसके समर्थक मीडिया द्वारा अपने बचाव में पैदा की जाने वाली लहरों में नहीं बहते हैं। यह दृढ़ता उन्हें किशन जी के चिंतन से मिलती है।

किशन जी आजीवन समता के मूल्यों के साथ जिए और उसके लिए संसद (1962-1967) और उसके बाहर सतत वैचारिक और सक्रिय संघर्ष किया। वे वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के कड़े आलोचक ही नहीं, उसके गहन और प्रखर अध्येता भी थे। उन्होंने भारतीय राजनीति और समाज के संदर्भ में सांप्रदायिकता, जातिवाद और वैश्वीकरण के साम्राज्यवाद के साथ नाभिनाल रिश्ते को नब्बे के दशक में ही पहचान लिया था। वैश्वीकरण अथवा नई आर्थिक नीतियों के तहत बनने वाली नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के समता विरोधी मूल चरित्र की पहचान करने वाले वे अकेले नेता और विचारक थे। नवउदारवादी

अर्थव्यवस्था के वैश्विक आयामों पर भी उनकी गहरी नजर थी। नवउदारवादी अर्थव्यवस्थाा के चलते विषमता की चौड़ी होती खाई और वैश्विक मंदी की आहट भी उन्होंने महसूस की थी। उनकी बात सही निकली। दुर्भाग्य से वे हमारे बीच नहीं रहे। विषमता की चौड़ी होती खाई और वैश्विक मंदी के इस दौर में समाजवादी विकल्प की लड़ाई लड़ने वाले आंदोलनों को उनके विचारों और जीवन से दिशा निर्देश मिलता है। नवउदारवादी अर्थव्यवस्था के विश्लेषण और विकल्प के औजार हमें किशन जी के चिंतन में मिलते हैं।

भारत के जाने माने उद्योगपति आदित्य बिरला समूह के कुमारमंगलम बिरला मुंबई के मालाबार हिल्स पर बने 30,000 वर्ग फुट के जटिया हाउस को 425 करोड़ रुपए में खरीदने की तैयारी कर रहे थे। उसी के 20-25 दिन पहले वहां से कुछ सौ किलोमीटर की दूरी पर महाराष्ट्र के ही परभनी (बीड) जिले के चिकलथाना गांव में मधुकर जादव अपने खेत में मरे पाए गए। उन पर स्टेट बैंक आफ महाराष्ट्र का 50,000 रुपए का कर्ज था। तकरीबन इतना ही कर्ज उनकी पत्नी कावेरी पर उसी बैंक से था। अब जादव की प्रतिभाशाली बेटियां मीरा जादव और सुवर्णा का भविष्य अंधकारमय है। मराठवाड़ा के सूखाग्रस्त इलाके की यह कहानी वहां बार-बार दोहराई जा रही है। इस साल इस इलाके में 628 किसानों ने खुदकुशी की है। हर महीने औसतन 69 किसान खुदकुशी कर रहे हैं। सर्वाधिक मौतें बीड में हुई हैं जहां कुल 177 किसान खुदकुशी कर चुके हैं। हो सकता है कि इस व्याख्यान को तैयार करते समय और इसे प्रस्तुत किए जाते समय के बीच यह संख्या और बढ़ गई हो। कुछ पत्रकारों का कहना है कि यह आत्महत्या नहीं, सुनियोजित हत्याओं का एक सिलसिला है, जिसे किसानों का नरसंहार भी कह सकते हैं।

उदारीकरण के दौर में बढ़ती असमानता और आम आदमी की लाचारी का सबसे ज्वलंत प्रमाण इन बीस वर्षों में देश में होने वाली तीन लाख किसानों की आत्महत्याएं हैं। सन 2013 से 2014 के बीच किसानों की आत्महत्याओं में 26 प्रतिशत वृद्धि हुई है। सन 2013 में 879 अतिरिक्त किसानों ने आत्महत्या की थी और 2012 में यह आंकड़ा 1046 का था। गौर करने लायक बात यह है कि किसानों पर सबसे बुरी मार महाराष्ट्र पर पड़ी है और 2014 में आत्महत्या करने वाले 1109 अतिरिक्त किसानों में 986 महाराष्ट्र के थे। नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो की रपट के अनुसार सन 2012 में 13,754 किसानों ने आत्महत्या की थी। 1995 के बाद सर्वाधिक कृषक आत्महत्याएं सन 2004 में हुई हैं। इस दौरान 18,241 किसानों ने आत्महत्याएं कीं। गौरतलब है कि भारत में यह उदारीकरण का चरम था। इसी से अतिप्रसन्न होकर एनडीए सरकार ने शाइनिंग इंडिया का नारा दिया था और समय से पहले ही चुनाव मैदान में उतरने का फैसला कर लिया था।

हालांकि अंग्रेजी जमाने में किसानों की आत्महत्या की दरें बहुत ज्यादा थीं। सन 1897 में प्रति लाख की आबादी पर आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या मध्य प्रांत में 79 और बांबे प्रांत में 37 थी। यह दर 1940 से 1962 के बीच कर्नाटक में 5.7 व्यक्ति प्रति लाख थी। आज 1995 से अब तक देश भर में आत्महत्या करने वाले किसानों की कुल तादाद तीन लाख तक पहुंच चुकी है। कर्ज माफी, रियायतें, मुआवजे और सिंचाई के इंतजाम के लिए बजट दिए जाने के बाद भी यह सिलसिला रुक नहीं रहा है। विडंबनापूर्ण बात यह है कि देश 29 राज्यों पर आधारित किसान आत्महत्या की संख्या में 76 प्रतिशत सिर्फ पांच राज्यों से हैं। इनमें अगर बीमारू राज्यों की श्रेणी में रखे जाने वाले मध्य प्रदेश राज्य को निकाल दिया जाए तो महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश (आज तेलंगाना और आंध्र प्रदेश), केरल और कर्नाटक राज्य आगे बढ़े हुए राज्य माने जाते हैं।

अखिल भारतीय स्तर पर किसानों की आत्महत्या के आंकड़े (स्रोत नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो)

वर्ष	आत्महत्या करने वालों की संख्या
1995	10,720
1996	13,729
1997	13,622
1998	16,015
1999	16,082
2000	16,603
2001	16,415
2002	17,971
2003	17,164
2004	18,241
2005	17,131
2006	17,060
2007	16,632
2008	16,796
2009	17,368
2010	15,964
2011	14,027

वर्ष	आत्महत्या करने वालों की संख्या
2012	13,754
2013	11,772
2014	12,360

संसद में मंत्री की तरफ से दिए गए बयान के अनुसार सन 1995 से अब तक 2,96,438 किसान आत्महत्या कर चुके हैं। इनमें महाराष्ट्र में 2013 तक आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या 60,750 है। इस आंकड़े की गणना करें तो पता चलता है कि 1995 से 2003 तक सात मौतें रोजाना हो रही हैं।

आर्थिक असमानता और असुरक्षा की यह स्थिति मराठवाड़ा से यूरोप तक फैली हुई है। बस उसकी जड़ में कहीं प्रकृति दिखाई पड़ती है तो कहीं युद्ध। तीन साल के सीरियाई बच्चे ऐलान कुर्दी की लाश को तुर्की के समुद्र तट पर देखकर दुनिया दहल गई है। उसकी तुलना 1972 में वियतनाम युद्ध के दौरान गिराए गए नेपाम बम के प्रभाव से खौफ खाकर नंगी भागती वियतनाम की एक बच्ची के चित्र से की जा रही है। या 1993 में सूडान के एक शरणार्थी शिविर से बाहर निकल कर आए एक कुपोषित बच्चे के मरने का इंतजार करते एक गिद्ध के दृश्य से। ऐलान कुर्दी के पिता अब्दुल्ला सीरिया के युद्ध और उससे पैदा हुई गरीबी और असुरक्षा से भागकर तुर्की पहुंच रहे थे। लेकिन रास्ते में समुद्री लहरों ने उनकी नौक डुबो दी जिसमें 12 लोग मारे गए।अब्दुल्ला ने अपनी पत्नी और बच्चों को बाहों में उठाकर बचाना चाहा लेकिन पाया कि वे मर चुके हैं।

ऐलान कुर्दी और दुनिया की इसी विडंबना पर उमेश कुमार चौहान की कविता दुनिया की तस्वीर को इस तरह देखती है–

समुद्र तट की गीली रेत पर
खामोश लेटे मासूम ऐलान–कुर्दी की तस्वीर
साफ–साफ बयां करती रही है कि
यह दुनिया कितनी तंग दिल है
और हद दर्जे की बेरहम भी
गोया कि यह दुनिया अब एक
खौफनाक आग बन चुकी है
जो सिर्फ रोटी पकाती नहीं, सिर्फ जलाती है
या कभी न पिघलने वाली बर्फ बन चुकी है,
जो इंसानियत को बचाती नहीं
सिर्फ जला देती है

आखिर कौन है इस दुनिया का नियंता जो उसके वाशिदों को इतनी गुरबत और लाचारी दे रहा है। आखिर कौन है वह जो मराठवाड़ा के किसानों की सुनियोजित हत्या कर रहा है, वियतनाम की बच्ची को नंगा दौड़ने पर मजबूर कर रहा है, सूडान के भूख से तड़पते बच्चे को गिद्ध के सामने लाचार छोड़ रहा है और ऐलान कुर्दी को समुद्र तट पर फेंक कर दुनिया को दहला रहा है। ताकत, लाचारी और खौफ के इस खेल में दुनिया क्या फिर वहीं लौट रही है जहां से वह दो विश्वयुद्धों के बाद निकली थी। अगर हम भारत में किसानों की आत्महत्याओं की बढ़ती संख्या को देखें, यूरोप में बढ़ती शरणार्थी समस्या को देखें, इराक में युद्ध और आतंकवाद में मारे गए पचास लाख लोगों की संख्या पर गौर करें या अफगानिस्तान के युद्ध और सीरिया के युद्ध पर नजर डालें या चीन के मौजूदा आर्थिक संकट से दुनिया में आने वाली आहट को महसूस करें तो पाएंगे कि यह उन गलत आर्थिक नीतियों और उसका समर्थन करने वाली भूराजनीतिक नीतियों और राजनीतिक कार्रवाइयों का परिणाम है जिनके तहत एक की कीमत पर दूसरे की तरक्की का खाका खींचा गया था। जिसमें असमानता को विकास की प्रेरक शक्ति माना गया था और वेतन, जायदाद में बढ़ते अंतर को सबके विकास के तौर पर देखा जा रहा था। कहा जा रहा है कि आज यूरोप की शरणार्थी समस्या द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 1945 की शरणार्थी समस्या के बाद की सबसे बड़ी समस्या है और इससे यूरोपीय संघ की पूरी अवधारणा खंड- खंड होने को है। यानी मामला सिर्फ यूनान तक सीमित नहीं है बल्कि वह बीमारी पूरे शरीर में है यूनान, स्पेन तो उसके समय- समय पर प्रकट होने वाले लक्षण हैं।

लेकिन अब दुनिया उस मुकाम पर आ गई है जहां पर असमानता को कतिपय राजनीतिक, सामाजिक कार्यकर्ता और कुछ वामपंथी साहित्यकार ही मुद्दा नहीं बना रहे हैं, बल्कि वे लोग भी मुद्दा बना रहे हैं जो पिछले तीस–चालीस साल से चल रही अर्थव्यवस्था के योजनाकार रहे हैं। यह सही है कि हाल में आई थामस पिकेटी की किताब 'कैपिटल इन ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी'– ने पूंजी के असमानता बढ़ाने वाले नए चरित्र को वैश्विक स्तर पर बहस का मुद्दा बना दिया है। कहा जा रहा है कि

कार्ल मार्क्स की दास कैपिटल के बाद यह पूंजी पर लिखा गया सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। हालांकि पिकेटी मार्क्स की तरह से न तो किसी आर्थिक नियतिवाद का प्रतिपादन करते हैं और न ही पूंजी के भावी चरित्र के बारे में कोई सुनिश्चित भविष्यवाणी करते हैं। लेकिन उन्होंने असमानता और विशेषकर आर्थिक असमानता को फिर से विश्व के एजेंडा पर ला दिया है। कैपिटल इन द ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी' अंग्रेजी में 2014 में प्रकाशित हुई जिसके बाद दुनिया के विभिन्न हिस्सों में कोई तबका पिकेटी में मार्क्स के स्वर सुनकर खुश हो रहा है तो कोई उनमें मार्क्सवादी व्याख्या की झलक देखकर चिढ़ रहा है।

कैपिटल के बाद पिकेटी की नई किताब 'द इकानामिक्स आफ इनइक्विालिटी' ने इस बहस को नए सिरे से गरमाया है। हालांकि पिकेटी का कहना है कि यह किताब नई नहीं है और 1997 में फ्रैंच में आई उनकी किताब का ही एक रूप है। पर इन अर्थशास्त्रियों के लेखन का असर यह हुआ है कि दुनिया में असमानता पर जो चर्चाएं विवादास्पद मानी जाती थीं या टाली जाती थीं वे फिर से प्रासंगिकता पाने लगी हैं। थामसन रायटर्स आफ डिजिटल की एडिटर और फाइनेंसियल टाइम्स की पूर्व डिपुटी एडिटर क्रिस्टिया फ्रीलैंड प्लूटोक्रेट्स- राइज आफ न्यू ग्लोबल सुपर रिच एंड द फाल आफ इवरीवन एल्स' में लिखती हैं कि अस्सी के दशक से शुरू होकर और अभी हाल तक आर्थिक असमानता पर काम करना यूरोप और अमेरिका में एक संवेदनशील मुद्दा माना जाता था और इससे बचा जाता था। वे विश्व बैंक के एक अर्थशास्त्री बैंको मिलानोविच का जिक्र करती हैं जो अपने देश यूगोस्लाविया में अस्सी के दशक में आय की असमानता पर काम करना चाहते थे लेकिन उन्हें कहा गया कि यह संवेदनशील विषय है।

मिलानोविच ने बताया, उन्हें एक बार वाशिंगटन के डीसी के एक थिंक टैंक (बौद्धिक) ने बताया बौद्धिकों का बोर्ड ऐसे किसी भी काम को फंड नहीं देने वाला है जिसके शीर्षक में आय और संपत्ति की असमानता का जिक्र हो।

मिलानोविच से कहा गया कि वे गरीबी उन्मूलन पर काम कर सकते हैं और इसके लिए उन्हें बजट मिल जाएगा। लेकिन असमानता एकदम अलग विषय है। जब उन्होंने पूछा कि ऐसा क्यों तो उनसे कहा गया कि इसलिए क्योंकि कुछ लोगों की गरीबी कि चिंता करने से हमारी छवि अच्छी दिखती है। चैरिटी या दान करना अच्छी बात है इससे कुछ लोगों का अहम संतुष्ट होता है और भले ही गरीब व्यक्ति को कम सहायता मिले लेकिन इससे देने वाले को नैतिक सराहना प्राप्त होती है। लेकिन असमानता अलग चीज है और उसका जिक्र किए जाने से हमारी (संपन्न लोगों की) आय की उपयुक्तता और वैधता के बारे में सवाल खड़े होते हैं। इसकी झलक हम भारत में उन सरकारी प्रयासों के तौर पर देख सकते हैं जहां किसानों की आत्महत्याओं के बाद उन्हें मुआवजा और राहत पैकेज दिया जाता है या विस्थापित आदिवासियों को नया मुआवजा दिया जाता है। दरअसल भारत जैसा लोकतंत्र अपने इन्हीं सेफ्टी वाल्वों के माध्यम से अपने भीतर बढ़ती आय और जायदाद की असमानता को छिपा लेता है जो परभनी के जादव और मुंबई के बिरला के बीच भयावह रूप से बढ़ी है। वह खाई मायावती और उनके मतदाताओं के बीच भी है और लालू प्रसाद और मुलायम सिंह व उनके मतदाताओं के बीच भी है। पर इस पर चर्चा के बजाय राहत और आरक्षण को ही विमर्श का विषय बनाया जाता है।

लेकिन आज विकसित पूंजीवादी देशों में असमानता पर बहस होने लगी है और थामस पिकेटी ही नहीं उनके जैसे तमाम अर्थशास्त्री घूम- घूम कर यूरोप और अमेरिका में इस पर भाषण दे रहे हैं। जाहिर है यह भाषण अफ्रीका और एशिया के देशों में दिए जाने वाले भाषणसे अलग है और इससे फ्रांसीसी क्रांति, अमेरिकी क्रांति और पिछली सदी के रूसी क्रांति की स्थितियों की याद ताजा हो जाती है।

थामस पिकेटी के अलावा टोनी एटकिंसन और रिचर्ड विलकिन्सन जैसे अर्थशास्त्री भी असमानता के सवाल को उठा रहे हैं। यानी असमानता पर चर्चा करना अब पुराने फैशन की बात नहीं है (कह सकते हैं असमानता फिर से फैशन में आ गई हैं।)

अमेरिका में राष्ट्रपति पद की डेमोक्रेटिक पार्टी की उम्मीदवार हिलेरी क्लिंटन ने 14 जून 2015 को अमेरिका में बढ़ती असमानता को अपने भाषण का केंद्रीय मुद्दा बनाया। 15 जून को अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के अर्थशास्त्रियों ने एक अध्ययन जारी किया जिसमें असमानता के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इस

अध्ययन का कहना था कि असमानता से तमाम तरह की समस्याएं पैदा होती हैं, लेकिन सरकार को इसके विकास पर पड़ने के प्रभाव पर ध्यान देना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष यह मानने लगा है कि असमानता बढ़ने से विकास की रफ्तार कम हो रही है। आईएमएफ के अध्ययन में कहा गया है कि अगर ऊपर के 20 प्रतिशत की आय में 1 परसेंटेज प्वाइंट की वृद्धि हुई तो विकास दर 0.08 परसेंटेज प्वाइंट घट जाएगी। लेकिन अगर नीचे के 20 प्रतिशत तबके की आय बढ़ी, विकास दर बढ़ेगी।

हालांकि अमेरिकी अर्थशास्त्रियों में यह राय थी कि असमानता बढ़ाया जाना एक प्रकार से उद्यमशीलता को प्रोत्साहन है। अगर वह नहीं किया जाएगा तो खतरा कौन लेगा और नवोन्मेष कौन करेगा। इसी सिद्धांत को 1975 में एक अलग समीकरण के साथ पेश करते हुए अर्थशास्त्री आर्थर ओरकुन ने कहा था कि समाज संपूर्ण समानता और संपूर्ण दक्षता दोनों नहीं रख सकता। एक के लिए दूसरे को कितना बलिदान किया जाए यह एक गंभीर दुविधा भी है और सवाल भी।

लेकिन आज दुनिया फिर इसी दुविधा के व्दार पर आकर खड़ी हो गई है। अब फिर अर्थशास्त्रियों का समूह यह कहने लगा है कि असमानता से विकास दर कम हो जाएगी। इसकी कई वजहें हैं, जैसे कि इससे निचले तबके के लोगों की सेहत खराब हो जाएगी। वह इलाज नहीं करा पाएगा और उत्पादकता पर असर पड़ेगा। असमानता का नुकसान झेलने वाला व्यक्ति अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं दे पाएगा और फिर इससे उत्पादकता पर असर पड़ेगा। असमानता से बढ़ते खतरे का एक मनोवैज्ञानिक पहलू भी है जिसे अर्थशास्त्री तेजी से महसूस कर रहे हैं और वो यह कि इससे मुक्त व्यापार में जनता का यकीन हिल सकता है। यह बात इंस्टीट्यूट फार एडवांसड स्टडी इन प्रिंसटन के डॉनी रोड्रिक कहते हैं।

भारत के रिजर्व बैंक के मौजूदा गवर्नर सन 2010 में अपनी पुस्तक 'इकानमिक इनइक्विलिटी कुड लीड टू फाइनेंसियल इनस्टेबिलिटी' में इस खतरे को रेखांकित करते हैं। साथ ही वे उन उपायों के खतरे के प्रति भी आगाह करते हैं जो सरकारें इससे निपटने के लिए उठाती हैं। वे कहते हैं कि कुछ सरकारें गरीबों को ज्यादा कर्ज देकर गरीबी घटाने के बारे में सोचती हैं लेकिन वेतन में कम वृद्धि होने के कारण इससे उपभोग ठहर जाता है। यानी विकास पर नकारात्मक असर पड़ता है।

असमानता से पैदा होने वाली विकास संबंधी विसंगतियों के बारे अर्थशास्त्री बेन बरनरके और लैरी समर्स कहते हैं इससे बचत में इजाफा होता है। बचत बढ़ने के ब्याज दर घटती है, जायदाद की कीमत बढ़ती है, कर्ज लेने का सिलसिला बढ़ता है और फिर केंद्रीय बैंक अर्थव्यवस्था को संभाल नहीं पाते। अमेरिका का सब-प्राइम संकट इसके एक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

आज महज विकास कहने से उस तरह से आत्मविश्वास का बोध नहीं होता है जिस तरह 1990 के दशक में होता था। विकास का जो रास्ता उस समय पूरे जोर शोर से अपनाया गया वह नए किस्म के अवरोधों का शिकार हो रहा है। विकास अपने आप असमानता दूर नहीं करता। बल्कि असमानता विकास की रफ्तार को थाम लेती है और उसे अपनी गति और दिशा के बारे में सोचने पर मजबूर करती है। भारत में आज एनडीए सरकार की तरफ से दिए जा रहे नारे--- सबका साथ सबका विकास--- को इसी संदर्भ में देखा जा सकता है। एक तरफ कहा जा रहा है कि विकास की छूट देने के लिए पिछले तीस सालों में अमीरों पर कर घटाया गया जिससे असमानता बढ़ी है। यह अमेरिका का अनुभव है जिसे उनके तमाम अर्थशास्त्री कह रहे हैं। दूसरी तरफ लातीन अमेरिका के अनुभव को असमानता घटाने वाला बताया जा रहा है। लेकिन वहां असमानता घटाने के लिए सरकारों ने एक तरफ आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण कायम किया जिससे विकास दर में कमी आई है। आज ब्राजील में राष्ट्रपति डेल्मा रऊफ से वहां का मध्यवर्ग नाराज है। क्योंकि वह जिस तरह अपनी समृद्धि चाहता था वैसी नहीं हो पा रही है। वह इस बात से भी असंतुष्ट है कि उसकी तुलना में समाज के निचले तबके को ज्यादा हासिल हुआ है।

वैसे तो असमानता का सवाल बहुत पुराना है लेकिन नए संदर्भ में उसे उदारीकरण और उसके साथ जुड़े लोकतंत्र की बड़ी विफलता के रूप में देखा जा रहा है। यह बात सन 2008 में शुरू हुई अमेरिकी मंदी के साथ पैदा हुई पूरी दुनिया में प्रदर्शनों की लहर से जुड़ी हुई है। उस समय ट्यूनीशिया, मिस्र, सीरिया, भारत में हुए विरोध प्रदर्शनों और -औकूपाई वाल स्ट्रीट- के आंदोलन ने एक

प्रतिशत बनाम 99 प्रतिशत का सवाल खड़ा कर दिया। इस आंदोलन के समय मौजूदा व्यवस्था पर तंज करते हुए नोबेल अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिग्लट्ज ने लिखा था-बाइ दा बन परसेंट, आफ द वन परसेंट , फार द वन परसेंट।

बल्कि इस बात को ज्यादा पैनेपन के साथ रखते हुए प्लूटोक्रेट्स में क्रिस्टिया फ्रीलैंड कहती हैं-एक प्रतिशत के बारे में भूल जाइए। अब उन 0.1 प्रतिशत पर ध्यान देने की जरूरत है जो कि धूमधड़ाके वाली गति से बाकी लोगों को दरकिनार कर रहे हैं। अमीर और गरीब के बीच पहले भी खाई होती थी लेकिन पिछले दशकों में यह खाई बेतहाशा बढ़ी है। खास बात यह है कि पहले की अमीरी कई पीढ़ियों पुरानी और वंशानुगत होती थी लेकिन आज की अमीरी उन लोगों की है जिन्होंने यह अमीरी खुद कमाई है। वे महाधनाढ्य लोग हैं। सिटीग्रुप के भीतरी मेमो में ग्राहकों से कहा जाता है कि वे राष्ट्रों के सिलसिले में निवेश का खाका तैयार करने की बजाय अमीरों की अर्थव्यवस्था की बारे में योजना तैयार करें। वे उन पार्टियों का जिक्र करती हैं जिनमें किसी बैंकर के जन्मदिन पर तीस लाख डालर की पार्टी दी जाती है और कहा जाता है कि इससे लोगों को आय होती है।

यह स्थितियां कब और कैसे पैदा हुई इसके बारे में क्रिस्टिया फ्रीलैंड साफ शब्दों में कहती हैं कि 1940 के दशक से लेकर 1970 और अस्सी के दशक यानी जब तक लाल खतरा था तब तक विकास भी हुआ और लोगों के आय के बीच की असमानता भी घटी। उस समय अमेरिका संभावनाओं और अवसरों की भूमि थी। उस समय मध्यवर्ग खुश था। इस पर अमेरिका की न्यू डील और पश्चिमी यूरोप की सामाजिक कल्याण की योजनाओं का भी असर था। ''आर्थिक वृद्धि बढ़ रही थी और आर्थिक असमानता तेजी से कम हो रही थी। लेकिन 1940 के दशक और 1970 के दशक में अमेरिका में ऊपर के एक प्रतिशत और बाकी लोगों के बीच की खाई कम हो रही थी। ऊपर के एक प्रतिशत के आय की हिस्सेदारी 16 प्रतिशत से घटकर 7 प्रतिशत पर आ गई। 1980 में अमेरिका के औसत सीईओ की आय आम मजदूर से 43 गुना होती थी। लेकिन 2012 तक यह अंतर 380 गुना हो गया। उस समय करों की दरें ज्यादा थीं (ऊपर के वर्ग के लिए 70 प्रतिशत तक थी)। तीव्र आर्थिक वृद्धि की दर 3.7 प्रतिशत थी। यह वही दौर था जब सोवियत खेमे का जीवन स्तर पश्चिम के मुकाबले पिछड़ रहा था और पश्चिम में सोवियत संघ और उसके खेमे के देशों के खौफ के चलते जीवन स्तर सुधर रहा था। शायद इसी को भांपते हुए चीन में तंग श्याओ फिंग ने आर्थिक ढांचे का उदारीकरण 1979 में ही शुरू कर दिया था। जबकि सोवियत संघ में वह अपेक्षित बदलाव देर से हुआ और जब तक ग्लासनोस्ट और पेरेस्त्रोइका जैसा इलाज कुछ काम करता तब तक सोवियत संघ का पतन और विघटन शुरू हो चुका था। जबकि वह समय अमेरिकी मध्यवर्ग का स्वर्ण युग कहा जाता है, जिसे भारत में अस्सी और नब्बे के दशक में देखा गया।''

यह ट्रीटी आफ डेट्रायट का युग था। वह संधि 1950 में जनरल मोटर्स की ट्रेड यूनियन के अध्यक्ष वाल्टर रायटर के बीच पांच साल के लिए हुई थी और बाद में वह फोर्ड और क्राईसलर जैसी बड़ी आटोमोबाइल कंपनियों के साथ भी हुई। इसके तहत मजदूरों की पेंशन और स्वास्थ्य केयर को लेबर कांट्रेक्ट का हिस्सा बनाया गया। हालांकि इस संधि के लिए 1945 से 1949 तक मजदूरों की लंबी लंबी हड़तालें हुई। चालीस साल बाद जब यह संधि वाशिंगटन कन्सेंसस यानी बाजारवादी कट्टरता या नवउदारवाद के 1989 में आने के साथ भंग हुई तो असमानता बढ़ने का सिलसिला तेज हुआ। हमें मालूम होगा कि वाशिंगटन सहमति दस विंदुओं का वह आर्थिक प्रस्ताव है जो अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और अमेरिकी वित्त विभाग ने लातीन अमेरिकी देशों और विकासशील देशों का आर्थिक संकट दूर करने के लिए तैयार किया था। इसे तैयार करने में ब्रिटिश अर्थशास्त्री जान विलियम्सन का बड़ा योगदान रहा है। यही आर्थिक नीतियां हैं जो आज की दुनिया की अच्छी बुरी स्थितियों के लिए जिम्मेदार हैं। इसके पीछे, प्रौद्योगिकी क्रांति और वैश्वीकरण जिसमें मुख्य भूमिका वित्तीय संस्थाओं का विस्तार प्रमुख है, मुख्य कारक हैं।

यही वह दौर है जब रोनाल्ड रेगन और मार्गरेट थैचर ने आर्थिक नीतियों में बदलाव का दौर शुरू किया जिसे रीगनामिक्स और थैचरानमिक्स के नाम से जाना जाता है। रीगन ने उच्च वर्ग के कर को 70 प्रतिशत से घटाकर 28 प्रतिशत कर दिया, पूंजी प्राप्तियों के कर को अधिकतम 20 प्रतिशत तक गिरा दिया, ट्रेड यूनियनों का दमन किया गया, सामाजिक कल्याण पर खर्च कम किया गया और

अर्थव्यवस्था का विनियमन कर दिया गया। यही वह दौर है जब सोवियत खेमे के समाजवाद का पतन होने लगा और चीन ने पूंजीवाद का विरोध छोड़कर तंग श्याओ फिंग की लाइन पर अपनी सरकारी कंपनियों का निजीकरण शुरू किया और निजी उद्यमशीलता को बढ़ावा देना शुरू किया।

नवउदारवादी नीतियों ने किस प्रकार आर्थिक असमानता में वृद्धि की उसकी चर्चा नब्बे के दशक में भी होती थी और सदी के आरंभिक दशक में भी होती थी लेकिन 2008 की मंदी के बाद वह अमेरिका से भारत तक ज्यादा जोरशोर से उजागर हुई। भारत में हाल में जारी जनसंख्या के आंकड़े इस कहानी को चौंकाने वाले तरीके से बयान करते हैं। आज भारत में 40 से 42 करोड़ लोग ऐसे हैं जिनकी महीने की आमदनी पांच हजार रुपए से भी कम है। यह आबादी उससे भी ज्यादा है जो 1951 में देश की आबादी थी। देश के ग्रामीण परिवारों की संख्या 17.92 करोड़ है जिसमें 3.3 करोड़ परिवार अनुसूचित जाति और 2.0 परिवार अनुसूचित जनजाति और 12.64 करोड़ परिवार अन्य हैं। ऐसे परिवार जिनकी आमदनी पांच हजार रुपए महीने से कम है उनकी संख्या 13.34 करोड़ है। यहां एक परिवार की औसत सदस्य संख्या चार से पांच के बीच मानी गई है। देश में ग्रामीणों की संख्या 88 करोड़ है जिसमें से आधी संख्या श्रम करने वाले दिहाड़ी मजदूरों की है। यह सब गरीब की ही श्रेणी में आते हैं। देश में चार करोड़ परिवार (यानी 17 करोड़ लोग) ऐसे हैं जिनमें 25 साल से ऊपर वाला कोई व्यक्ति साक्षर नहीं है। देश में भूमिहीन परिवारों की संख्या 5.37 करोड़ है। यह सब लोग अपनी आय दिहाड़ी मजदूरी से करते हैं।

अर्जुन सेन गुप्ता समिति ने असंगठित क्षेत्र के लोगों पर 1993-1994 और 2004-05 के बीच सरकारी आंकड़ों का विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष निकाला कि 83.6 करोड़ 20 रुपए रोजाना प्रति व्यक्ति से कम खर्च पर अपना गुजर करते हैं। यह आंकड़ा उस दौर का है जब गरीबी घटाने का दावा किया जाता है। इस दौरान गरीबी का प्रतिशत जरूर घटा हो लेकिन गरीबों की संख्या में दस करोड़ की बढ़ोतरी हुई। जबकि नव धनाढ्य वर्ग की संख्या में 9.3 करोड़ की वृद्धि हुई और मध्य वर्ग की संख्या 16.2 करोड़ से बढ़कर 25.3 करोड़ हो गई।

कुछ वर्ष पुराने आंकड़ों के अनुसार भारत के सबसे अमीर व्यक्ति मुकेश अंबानी रोजाना 11000 करोड़ रुपए की आमदनी करते हैं। सन 2013-14 में उनका कुल टर्नओवर 401,302 करोड़ रुपए था।

मुकेश अंबानी का सालाना वेतन 15 करोड़ रुपए है। कंपनी बोर्ड ने उनका वेतन 38.86 करोड़ सालाना के लिहाज से मंजूर किया था लेकिन उन्होंने सादगी का परिचय देते हुए इसे आधे से भी कम पर रखा। आरआईएल के प्रमुख कार्यकारी निदेशक पीएमएस प्रसाद का वेतन 6.03 करोड़ रुपए सालाना है। मुकेश अंबानी के भतीजे निखिल खेमानी का वेतन 12.03 करोड़ रुपए है।

यहां मुकेश अंबानी के शानदार भवन का जिक्र किए बिना उनकी रईसी का वर्णन पूरा नहीं होगा। सत्ताइस मंजिले एंटीलिया नाम के उनके इस भवन की कीमत 22.3 अरब डालर यानी कि 1427.2 अरब रुपए (142720 करोड़ रुपए है)।

यहां हम अपने प्रधानमंत्री का जिक्र नहीं करना चाहते जिन्होंने इसी अमीरी की परंपरा का पालन करते हुए गणतंत्र दिवस पर अपना नाम लिखा हुआ जो सूट पहना वह दस लाख रुपए का था। उस सूट की नीलामी पर अलग- अलग कहानियां निकलीं।पर इतना जिक्र कर देना जरूरी होगा कि मोदी सरकार विदेश यात्राओं के मामले में यूपीए सरकार से पीछे नहीं है। अगर यूपीए सरकार ने 2013-14 में 258 करोड़ रुपए की विदेश यात्राएं की थीं तो मोदी सरकार ने 317 करोड़ रुपए विदेश यात्राओं पर खर्च किए।

भारत की असमानता के बारे में ज्यां द्रेज और अमर्त्य सेन ने---'एन अनसर्टेन ग्लोरी'---में ज्यादा जिक्र तो नहीं किया है लेकिन उन्होंने उन तमाम स्थितियों का वर्णन जरूर किया है जो 2008 की मंदी के दौर में उजागर हो रही थीं और जो इंडिया शाइनिंग या अच्छे दिनों के दावे की कलई खोल रही थीं। वे लिखते हैं कि पारंपरिक आर्थिक विश्लेषण के आधार पर हम भारत को दुनिया के अन्य देशों के मुकाबले ज्यादा असमान नहीं कह सकते। उनकी यह धारणा उस गिनी सूचकांक की गणना पर आधारित है जिसके तहत सर्वाधिक असमानता होने पर यह सूचकांक 1.0 और सबसे कम असमानता होने पर सूचकांक 0.0 होता है। भारत में असमानता का स्तर कम बताने वालों ने भारत के प्रति व्यक्ति व्यय को दूसरे देशों की प्रति व्यक्ति आय तुलना की है। लेकिन उनका यह भी

दावा है कि भारत में विश्वसनीय आंकड़ों की अनुपस्थिति के कारण भी यह गणना ज्यादा साफ नहीं हो पाती। शायद यहां मिलानोविच वाली स्थिति भी है, जिसे असमानता का ज्यादा अध्ययन करने से रोका गया था।

विश्व बैंक के अध्ययन में कहा गया है कि भारत में प्रति व्यक्ति गिनी सूचकांक 0.54 है जो कि खर्च के आंकड़े के आधार पर निर्धारित किए गए 0.35 के आंकड़े से बहुत ज्यादा है। विश्व बैंक कहता है कि, ''भारत में असमानता का स्तर वैसे ही जैसे ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका जैसे उच्च असमानता के स्तर वाले देशों का।''

विश्व बैंक के अनुसार प्रति व्यक्ति खर्च का आंकड़ा बताता है कि गांव और शहर के बीच असमानता बढ़ी है और शहरी इलाकों में भी असमानता बढ़ रही है। अध्ययन का निष्कर्ष है कि इस बीच भारत में हुई तीव्र आर्थिक वृद्धि का लाभ शहरों के समृद्ध वर्ग को ही प्राप्त हुआ है। इसी तरह प्रति व्यक्ति आय का आंकड़ा बताता है कि ऊपर के स्तर पर आय का केंद्रीकरण बढ़ रहा है और संपत्ति के आंकड़े बताते हैं कि सुधार के बाद के दौर में गरीबी घटने की गति धीमी रही।

यहां बावन साल पहले समाजवादी नेता डा राममनोहर लोहिया का संसद में 21 अगस्त 1963 को अविश्वास प्रस्ताव पर दिया गया भाषण याद आ रहा है। उस भाषण को सन 2013 में 'लोकसभा में लोहिया' का संपादन करते हुए मस्तराम कपूर ने आज के संदर्भ से कुछ इस प्रकार जोड़ा था---''इसी भाषण में उन्होंने यह सवाल उठाया था कि भारत के 27 करोड़ लोग (लगभग 70 प्रतिशत आबादी) तीन आने रोज पर गुजर करते हैं और प्रधानमंत्री के कुत्ते पर तीन रुपए रोज और प्रधानमंत्री पर 25,000 रुपए रोज खर्च होता है। यह स्थिति आज भी बनी हुई है। अर्जुन सेन गुप्त आयोग की रपट के अनुसार 84.4 करोड रुपए (आबादी का लगभग 78 प्रतिशत) 20 रुपए रोज पर गुजारा करते हैं और ये 20 रुपए 1963 के तीन आने यानी 20 नए पैसे के बराबर होते हैं यदि कीमतों में सौ गुना वृद्धि मान लें जो कि निश्चय ही है।''

डा लोहिया के भाषण के शब्द इस प्रकार थे-जैसा कि हिंदुस्तान के योजना कमीशन के एक सदस्य ने कहा है कि 60 सैकड़ा कुटुंब 25 रुपए महीना पर निर्वाह करते हैं। यानी 27 करोड़ लोग तीन आने रोज के खर्च पर जिंदगी निर्वाह करते हैं। मैं चाहता हूं कि यह हमेशा याद रखा जाए कि 27 करोड़ आदमी तीन आने रोज के खर्च पर जिंदगी चला रहे हैं, जबकि प्रधानमंत्री के कुत्ते पर तीन रुपए रोज खर्च करना पड़ता है। यह है हमारे आज के हिंदुस्तान की हालत। ....

हमारे देश में गैर बराबरी जितनी थी उससे भी ज्यादा बढ़ती चली जा रही है। मैं खाली यही बताऊं कि हमारे देश में खेत मजदूर 12 आने रोज कमाता है, क, ख, ग या अलिफ, वे, पे पढ़ाने वाला अध्यापक दो रुपए रोज कमाता है। हिंदुस्तान का एक व्यापारी खानदान है जो तीन लाख रुपए रोज कमाता है, जो सबसे अमीर व्यक्ति है हिंदुस्तान का वह तीस हजार रुपए रोज कमाता है और सरकार में सबसे बड़ा आदमी है, यानी प्रधानमंत्री उसके ऊपर पच्चीस से तीस हजार रुपए रोज खर्च होते हैं।''

हम सभी जानते हैं कि तीन आने बनाम पंद्रह आने की यह बहस लोकसभा में काफी तल्ख हो गई और डा राम मनोहर लोहिया और प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के बीच तीखी नोंक झोंक हुई।

उसकी एक झलक इस प्रकार है-

जवाहर लाल नेहरू----डा राम मनोहर लोहिया ने हिसाब निकाला है कि देश की 60 प्रतिशत जनता की प्रति व्यक्ति औसत आमदनी तीन आने रोज है। मैं नहीं जानता कि वे इस नतीजे पर कैसे पहुंचे। इस गणित में उन्होंने बहुत सारी गलतियां की हैं, प्रति परिवार और प्रति व्यक्ति की आय में उन्होंने भ्रम पैदा किया है। अवश्य उन्होंने इसे पांच से भाग दे दिया।..........

जेबी कृपलानी---खेत मजदूर पंद्रह आने रोज नहीं पाते हैं।

....

जवाहर लाल नेहरू: जी हां। जो गलती डा लोहिया ने की है, वह यह है कि पर कैपिटा इनकम को पर फैमिली इनकम कर दिया है। वह घबरा गए और फैमिली को उन्होंने पांच का गिना और उस इनकम को पांच से डिवाइड कर दिया।

राम मनोहर लोहिया: अच्छा हिसाब लगा लीजिए कि 27 करोड़ आदमियों की आमदनी तीन आने प्रति आदमी के हिसाब से कितनी आती है और एक रुपए के हिसाब से कितनी आती है। इसमें प्रधानमंत्री जी भारी भूल कर रहे हैं।

जवाहर लाल नेहरू: मैंने हिसाब लगा लिया। इस

बारे में मेरे पास एक साहब का नोट है जो कि इस प्रकार है:

डा लोहिया प्रति व्यक्ति 25 रुपए की आय को परिवार की आय मान बैठे हैं। उनके सारे निष्कर्ष इस भ्रांति पर आधारित हैं, इसके परिणाम स्वरूप उन्हें गलत नतीजे प्राप्त हुए हैं।....

....

डा लोहिया: अध्यक्ष महोदय एक ऐसा सवाल उठाया गया है तीन आने बनाम पंद्रह आने का, जिसके बारे में मैं एक बात कहना चाहता हूं। .....

लोहिया: तीन आने और पंद्रह आने वाली बात अगर सही है तो मैं इस सदन से निकल जाऊंगा और अगर वह गलत हैं तो उनको प्रधानमंत्री बने रहने का कोई हक नहीं है। ....

अध्यक्ष: इस वक्त तो बैठ जाइए।

डा राम मनोहर लोहिया: प्रधानमंत्री ने मेरे दिमाग को ओछा कहा है मैं उनके दिमाग को ओछा, गंदा और डरपोक कहता हूं।

लोकसभा में 23 अगस्त 1963 को भी बहस जारी रहती है और उस समय बैंकों के राष्ट्रीयकरण पर बहस होती है। डा लोहिया कहते हैं कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण से पूंजीशाही का निर्माण रुकेगा नहीं। लेकिन वे फिर चिंता जताते हैं कि बैंकों के राष्ट्रीकरण के फायदे के बावजूद आय की असमानता उनके लिए और आर्थिक स्थितियों के लिए चिंता का विषय है।

डा लोहिया कहते हैं-- ''भारत में निजी क्षेत्र बन गया है बदइंतजामी वाला और सार्वजनिक क्षेत्र बन गया है लालच वाला। दोनों के अवगुण एक दूसरे ने सीख लिए हैं। इसलिए सबसे पहले मैं इस बात पर जोर दूंगा कि सार्वजनिक क्षेत्र में मजदूरी का फर्क इतना नहीं रहना चाहिए। अफसर और मजदूर के बीच बहुत फर्क है। राउरकेला के सार्वजनिक क्षेत्र में फौलाद के कारखाने में जो कि सार्वजनिक क्षेत्र में है एक हजार अफसरान को करीब 30 लाख रुपए महीने सुविधाओं और नौकरियों में मिल जाते हैं और दूसरी तरफ तीस हजार मजदूरों को 30 लाख रुपए मिलते हैं। यह गैर- बराबरी करीब-करीब वैसी ही है जैसी जमशेदपुर के टाटा कारखाने में। अगर इस तरह की गैरबराबरी रखते हुए राष्ट्रीयकरण होता है तो उसका कोई मतलब नहीं हुआ करता है। ......मैं नहीं समझता कि मेरी जिंदगी में इस तरह की गैर बराबरी मिट सकेगी। 20-30 वर्ष पहले बोलता तो कहता कि यह बिलकुल मिटाई जाए। आज मैं इसको घटाओ की बात कहूंगा।''

यहां संदर्भ के लिए यह बताना दिलचस्प है कि 1963 में इस बहस के उठने जब डा लोहिया संसद में नहीं पहुंचे थे तो सोशलिस्ट पार्टी के तत्कालीन सांसद किशन पटनायक ने लोहिया के हवाले से इस मसले पर प्रधानमंत्री को पत्र लिखा। इस पत्रचार की शुरुआत 14 अगस्त 1962 को हुई। सबसे पहले किशन पटनायक ने पत्र लिखा जिसका जवाब जवाहर लाल नेहरू ने दिया। उस पत्र का जवाब किशन पटनायक देते हैं और लंबे पत्र में बताते हैं कि प्रधानमंत्री के घर के सामान बदलने और उनकी सुरक्षा, मोटर गाड़ी और आवासीय साज सज्जा पर किस प्रकार अलग अलग मद में व्यय हो रहा है। इस व्यय का मीजान करने के बाद वे साबित करते हैं कि प्रधानमंत्री पर प्रतिदिन 25 हजार रुपए से ज्यादा खर्च हो रहा है। किशन पटनायक के 30 अगस्त 1962 को लिखे इस पत्र का संक्षिप्त लेकिन तल्ख जवाब जवाहर लाल नेहरू की तरफ से पांच सितंबर को दिया जाता है और वे उनके लंबे पत्र के विस्तार में जाने से इनकार करते हुए कहते हैं कि---मुझ पर रोजाना 25,000 रुपयों के खर्च का आरोप मूर्खतापूर्ण और फूहड़ है और स्पष्टत: किसी भीतरी व्देष के कारण लगाया जा सकता है।

यह बहस रोचक है और हमारे लोकतंत्र की उस आरंभिक अवस्था में की गई है जब सत्ता और विपक्ष दोनों ओर समाजवादी समाज कायम करने का जज्बा था। लेकिन लोहिया अगर नेहरू के खर्च और आम आदमी के रोजाना के खर्च के अंतर को स्पष्ट करते हैं तो उनका इरादा गैर बराबरी को जरा तीखे तरीके से उजागर करना होता है। लेकिन वे आय और व्यय की गैर बराबरी का ही सवाल नहीं उठाते बल्कि संपत्ति के अंतर को भी स्पष्ट करते हैं। पर लोहिया इस बहस को इसलिए उठा पाते हैं और किशन पटनायक प्रधानमंत्री को इसलिए पत्र लिख पाते हैं क्योंकि उनका जीवन बेहद सादगी और त्यागपूर्ण था। आज अगर इस तरह साहस समाजवादी नहीं कर पाते तो हम उसकी वजह सहज समझ सकते हैं।

(शेष अगले अंक में)

●

पूँजीवाद के मूल आधार और जन आंदोलन

फेलिक्स पाडेल

किशन पटनायक हमेशा ही बलपूर्वक किए गए विस्थापन के मुद्दे पर मुखर रहे। हम अभी यह भी नहीं जानते कि भारत के आजाद होने के बाद कितने करोड़ लोग विकास के नाम पर विस्थापित किए गए और न ही यह जानते हैं कि सैकड़ों की संख्या में कितने आंदोलन आज विस्थापन न होने देने के लिए सक्रिय हैं, क्योंकि वे पुनर्वास की भयावहना एवं किए गए वायदों के खोखलेपन को समझ रहे हैं। विडंबना यह है किं विकास के नाम पर विस्थापित होने वालों में वही लोग ज्यादा हैं, जो 'टिकाऊ विकास' की अवधारणा का सच्चे अर्थ में पालन करते हैं। संयम पूर्वक प्रकृति से लेते हैं, उसे आपस में बाँटते हैं और कुछ भी बरबाद नहीं करते।

मार्क्स ने एक सौ पचास वर्ष पहले ब्रिटेन एवं अन्य देशों में इसी तरह की प्रक्रिया का विश्लेषण किया था। उन्होंने कारखानों में मजदूरों के असीम शोषण के साक्ष्य प्रस्तुत किए। लोहिया ने यह प्रश्न उठाया कि क्या विकास के लिए औद्योगीकरण की अवधारणा भारत के लिए सही है? सुनील भाई भी इस पर सवाल उठाते रहे। किशन जी हमेशा उपलब्ध विकल्पों पर जोर देते रहे।

विकास को लेकर सर्वत्र एकरूपता वस्तुत: विश्वबैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कारण है। इन्होंने केन्द्र और राज्य को वापस न करने योग्य ऋण के भार से लाद दिया है। इस वजह से भारत में विदेशी पूँजी के लाभ के लिए ऐसे संसाधनों के दोहन में तेजी आई है, जो पुन: निर्मित नहीं किए जा सकते। समाजवादी जन परिषद को छोड़ दें तो मुख्य धारा की वामपंथी पार्टियां शायद ही कभी विश्व बैंक के इस घातक प्रभाव और विदेशी सहायता की संपूर्ण प्रक्रिया पर सवाल उठाती हैं। आज इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि आरोपित औद्योगीकरण, पूँजीवाद की संस्थाओं और इन्हें मजबूत आधार प्रदान करने वाली आर्थिक वृद्धि की अवधारणा पर नए सिरे से विचार किया जाए और संपूर्णता में इसका विश्लेषण किया जाए। इससे जन आंदोलनों को व्यापक, प्रभावी समर्थन मिलेगा और वामपंथ को पुनर्जीवन।

किशन पटनायक खनन उद्योग पर लगातार सवाल उठाते रहे। उन्होंने समरेन्द्र दास के साथ किए गए मेरे कार्य को भरपूर समर्थन दिया। ओड़ीशा से लेकर अमरीका तथा अन्य देशों के एल्यूमिनियम उद्योग के बारे में किया गया अध्ययन आज हमारी किताब 'आउट आफ द अर्थ (ईस्ट इंडिया आदिवासी एंड द एल्यूमिनियम कार्टल 2010) के रूप में मौजूद है। मौजूदा समय में एल्यूमिनियम उद्योग को बड़े परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। पूरी दुनिया में बढ़ रहे युद्धों में इसकी भूमिका है। विदेशी ताकतों द्वारा गृह-युद्ध को भड़काने के कारण सभी देशों की आबादी का बड़ा हिस्सा विस्थापन का शिकार है। सीरिया और दूसरे देशों में यह साफ दिख रहा है। शस्त्र उद्योग एवं सेनाएँ, जो इस तरह के युद्धों को पोषित करते हैं, वस्तुत: सर्वाधिक लाभ देने वाले उद्योग हैं और ये अत्यंत गहन रूप से खनन उद्योग से जुड़े हैं। इनके बारे में स्पष्टता आवश्यक है। इसी समय ऐसी नवउदारवादी संस्थाएँ भी हैं, जो हिंदुत्ववादी शक्तियों के साथ मिलकर विदेशी निवेश, आर्थिक वृद्धि एवं संघर्ष को प्रोत्साहित कर रही हैं।

मैं किशन पटनायक और समरेन्द्र दास से 2002 में मिला था। उस समय उत्कल एल्यूमिना (बिरला का आनुषंगिक संगठन-हिंडाल्को) के विरुद्ध आंदोलन चरम पर था। 16 दिसंबर 2000 को हुई मैकांच पुलिस फायरिंग के बाद का दौर था। इस आंदोलन के एक नेता भगवान माँझी ने बताया कि कैसे रायगढ़ जिले के पुलिस अधीक्षक ने उन्हें यह कहकर इस परियोजना का विरोध करने से मना किया कि कंपनी विकास कार्य करेगी, विद्यालय एवं चिकित्सालय खोलेगी। उनके शब्द थे 'कंपनी देबो' (कंपनी देगी)। इस शब्द की गूँज भारत में बनी हुई है। ठीक यही शब्द ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी इस्तेमाल किए थे, जिसका स्वागत लोगों ने दो सौ वर्ष पूर्व किया था। यह याद करना जरूरी है कि भारत सरकार का गठन 'सर्वप्रथम ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय संगठन के रूप में हुआ था। इसका कार्य अधिग्रहीत क्षेत्र में शासन करना और वहाँ से राजस्व एकत्र कर लंदन भेजना था। यही कारण है कि जिला अधिकारी अभी भी कलेक्टर (संग्रह कर्ता) कहे जाते हैं।

भारत में कार्पोरेट अधिग्रहण के विरोध का एक लंबा

इतिहास है। काशीपुर, नियमगिरी तथा ऐसे बहुत सारे आंदोलन ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अधिग्रहीत क्षेत्रों के प्रतिरोध की निरंतरता में ही हैं। सर्वप्रथम भारत सरकार की स्थापना संसार के पहले कार्पोरेशनों में से एक के द्वारा की गई और आज सरकार अनिवार्य रूप से कुछ क्षेत्रों को कार्पोरेशनों को दे रही है। वे वहाँ की जनता की कार्यशैली, स्वास्थ्य एवं शिक्षा का प्रबन्ध कर रहे है। जनजातीय क्षेत्र में बड़ो खनन कंपनियाँ पूर्णत: प्रशासन की तरह हैं। नाम के लिए वे विद्यालय एवं चिकित्सालय भी खोल रही हैं, जो उनके कल्याणकारी कार्यो का प्रतीक है। तकलीफ यह है कि उन पर लोकतांत्रिक नियंत्रण भी नहीं है। कंपनी द्वारा भूमि एवं संसाधनों के अधिग्रहण के विरुद्ध बोलने वालों की कोई परवाह नहीं है। आदिवासी समाज पीड़ियों से अपने कार्यो एवं पर्यावरण का प्रबंधन पारिस्थितीकीय तंत्र के अनुकूल लोकतांत्रिक ढंग से करता आ रहा है। उसे अचानक ही अपनी स्वायत्तता छोड़ने के लिए और कार्पोरेट में निम्नतम पद स्वीकार करने के लिए कहा जाता है। इससे खेत, जंगल और नदियों का विनाश होता है, जो लोगों के जीवन के लिए आवश्यक तत्व है। मार्क्सवादी शब्दावली में कहा आज तो अपने श्रम, समय एवं पर्यावरण के प्रति शत-प्रतिशत नियंत्रण रखने वाले लोग इसे पूरी तरह खो देते हैं।

विकल्प के रूप में आदिवासी संस्कृतियों द्वारा प्रस्तुत लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली के स्वदेशी माडल पर विचार करना आवश्यक है। भारत को दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र कहा जा सकता है, लेकिन यह सवाल बहुत जरूरी है कि पूँजीवादी लोकतंत्र का यह रूप वास्तव में कितना लोकतांत्रिक है और यह भी कि क्या भारत में लोकतंत्र के ऐसे माडल हैं, जिसमें लोकतांत्रिक मूल्य बेहतर रूप में उपलब्ध हैं? जयपाल सिंह मुंडा का यह कथन बार-बार उद्धृत किया जाता है, जिसे उन्होंने १९४६ में नेहरू से कहा था, 'आप आदिवासी लोगों को लोकतंत्र नहीं सिखा सकते। आपको उनसे लोकतांत्रिक शैली को सीखना होगा। वे धरती पर सर्वाधिक लोकतांत्रिक लोग हैं। 'वामपंथी विचारकों ने आदिवासी समाज में वर्गसंरचना पर बल दिया। वे यह भूल गए कि आदिवासी समाजों में समतावादी सोच एवं विचार विमर्श की असाधारण संस्कृति है। उन्होंने आदिवासी संस्कृति के प्रति सांस्कृतिक नस्लवाद का प्रदर्शन किया।

अन्य विकल्प के रूप में तुर्की एवं सीरिया में कुर्द आंदोलन से भी समाजवादी विचार को पुन: बल मिल सकता है। इस आंदोलन को प्रेरणा मिली अपने नेता राजनीति विज्ञानी अब्दुल्लाह ओकलेन के जेल में किए गए लेखन से एवं उत्तरी सीरिया में रोजाना एन्क्लेव की सफलता से। यहाँ स्त्री समाज ने इस्लामिक स्टेट की आक्रामकता पर विजय हासिल किया, जो पितृ प्रधान एवं स्त्री के प्रति दमनकारी रवैया रखता था। इस समय तुर्की सैन्य बलों द्वारा पी.के.के के साथ द्वितीय वर्षीय शांति प्रक्रिया को तोड़कर उत्पीडनकारी आक्रमण किया जा रहा है। पिछले कुछ वर्षो से तुर्की विदेशी पूँजी के साथ दुरभिसंधि करके गुप्त रूप से इस्लामिक स्टेट को शस्त्र एवं धन उपलब्ध करा रहा था। इस संघर्ष को विश्व की मीडिया ने महत्व नहीं दिया एवं गलत ढंग से प्रस्तुत किया। कुर्दो ने जीवंत समाजवादी परंपरा की प्रासंगिकता को साबित किया है। इससे भारत में मौजूदा आंदोलनों को सीख मिल सकती है और इक्कीसवीं सदी के पूँजीवाद के भयावह रूप पर रोक लग सकती है।

लूट की समझ

भारतीय जनता और जमीन का मौजूदा शोषण ईस्ट इंडिया कंपनी के शोषण से कहीं ज्यादा बुरा और खतरनाक है। हालांकि वह शोषण भी कम नहीं था। सत्रह सौ साठ में बंगाल में फसलों एवं सोने की लूट ने अकाल को जन्म दिया। किसानों को अफीम एवं नील की खेती के लिए बाध्य किया गया। शोषण परक सत्ता संरचना के अन्तर्गत क्षेत्रों का अधिग्रहण किया गया। इसके चलते 1780 में पहाड़िया, 1820-30 में भील एवं कोंड, 1830-50 के बीच मुंडा, हो एवं संथाल विद्रोह हुआ, जिसने अन्य नेताओं के साथ बिरसा मुंडा जैसे विद्रोही नेता को जन्म दिया।

विनाश की गति एवं मात्रा ने आज की लूट को ज्यादा खतरनाक बना दिया है। आजादी के पूर्व के दिनों में कोयला निकालने के लिए अधिकांश खदान भूमिगत होते थे, जो कामगारों के लिए खतरनाक एवं कठिन थे, लेकिन उससे पर्यावरण को कम क्षति पहुँचती थी। आज ओपेन कास्ट खनन में कई वर्ग किसी के क्षेत्र में खनन कार्य होता है और इसकी गहराई करीब एक किमी होती है। इससे जंगल, खेत, नदी के साथ ही ऊपर रहने वाले, समुदाय भी नष्ट हो रहे हैं। यह पारिस्थितिक संहार के साथ-साथ सांस्कृतिक संहार भी है। कुशल खेतीहर थत्म हो रहे हैं और विवशता में मजदूर बन रहे हैं। पर्यावरण मंत्री के रूप में कार्य करते हुए जयराम रमेश ने देश के बड़े कोयला क्षेत्र में से एक तिहाई को 'निषिद्ध' क्षेत्र बनाने का प्रयास किया था, जिससे उस क्षेत्र का जंगल,

जैव विविधता एवं आदिवासी समुदाय सुरक्षित रहे, लेकिन उनकी नहीं सुनी गई। इसकी जगह हमें 'कोयला घोटाला' देखने को मिला, जिससे सारा ध्यान कोयला क्षेत्र की नीलामी के तरीके पर केंद्रित हो गया और इस बात की भी चर्चा हुई कि कैसे कुछ नीलाम कोयला भंडारों का उपयोग कभी तक नहीं हुआ। अभी कोयला भंडारों से कोयला निकासी की जो दर है, उस दर के अगले-चालीस वर्ष तक ही कोयला निकाला जा सकता है। आगे के दो हजार वर्षो का क्या होगा?

आखिर कोयले की इतनी भूख क्यों? आखिर देश को कितनी बिजली की आवश्यकता है? यह एक महत्वपूर्ण सवाल है, जिस पर बहस होनी चाहिए। बिजली की जरूरत पूरी करने के लिए ही पूर्वोत्तर में नए बांधो के निर्माण की योजना बन रही है। मध्य भारत-पोलावरम, बोधघाट एवं लोवर सुकटेल में बड़े बाँध हैं, जन आंदोलन के बावजूद आर्थिक एवं वैज्ञानिक तर्को को दरकिनार कर जैतापुर एवं अन्य स्थानों में परमाणु ऊर्जा संयंत्र लगाए जा रहे हैं। एक सौ पचास वर्ष पहले किसी के पास बिजली नहीं थी, और अभी हम कोयले की खपत के चरम पर पहुँच गए हैं। शहर की रातें हजारों स्ट्रील लाइटों से जगमगाती रहती हैं। कारों एवं हवाई-जहाजों का कहना ही क्या? आखिर हम धरती के जैव ईंधन की खपत इतनी तेजी से क्यों कर रहे हैं?

सच यह है कि देश में पानी के साथ ही बहुत बड़ी मात्रा में बिजली की आपूर्ति भी इस्पात एवं एल्यूमिनियम उत्पादकों को की जा रही है, जिनका निर्यात किया जाता है। इस बात के लिए गर्व महसूस किया जाता है कि देश विश्व का चौथा सबसे बड़ा इस्पात अथवा एल्यूमिनियम उत्पादक देश बन गया है, लेकिन इसके पीछे देश के ऐसे प्राकृतिक संसाधनों की लूट है, जिसको पुन: बनाया नहीं जा सकता और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें पानी का घोर अपव्यय है। एक टन इस्पात के उत्पादन में चालीस टन से अधिक पानी का उपयोग होता है अथवा पानी प्रदूषित होता है। एक टन एल्यूमिनियम के उत्पादन में 1000 टन पानी की खपत होती है। हीराकुंड बाँध के आज पास बसे किसान यह सवाल उठा रहे हैं कि उन्हें वादे के मुताबिक पानी न देकर भारी मात्रा में पानी इस्पात एवं एल्यूमिनियम संयंत्रों को दिया जा रहा है।

देश में अनेक कारणों से पानी की स्थिति विकट है। हरित क्रांति के कारण धरती से जल निकासी बढ़ी और आज कई क्षेत्रों में भूमि जल स्तर काफी नीचे चला गया है, नदियों पर बाँध बनाए जाने से प्रदूषण का स्तर बहुत बढ़ गया है, कोयला खदानों की वजह से जल के स्रोत नष्ट हुए है, पहाड़ों के खनन से नदियों का स्रोत खत्म हुआ है। इन्हीं कारणों से उड़ीसा और आँध्र प्रदेश में बाकसाइट वाले पहाड़ों की रक्षा के लिए स्थानीय अदिवासी ग्रामीणों ने आंदोलन शुरू कर दिया हैं। वे लोग पहाड़ को उर्वरता एवं जीवन का स्रोत समझते हैं। बाक्साइट अयस्क में अल्युमिनियम, आक्सीजन एवं H_2O (पानी) के साथ संयुक्त होता है, इसलिए जब मानसून की वारिश होती है तब बाक्साइट इन पर्वत शिखरों पर स्पंज की तरह बारिश के पानी को रोक लेता है और धीर-धीरे वर्ष भर धारा के रूप में इन्हें छोड़ता है और भीषण गर्मी में भी शायद ही इसकी धारा सूखती हो। यही कारण है कि 1900 में ब्रिटेन के भू वैज्ञानिकों ने इन पहाड़ों के इर्द-गिर्द आश्चर्यजनक उर्वरता का उल्लेख किया। पहाड़ के निवासी कोंड लोगों के नाम पर इसके आधार चट्टान का नाम 'कोंडलाइट' रखा। पहाड़ के इन निवासियों से जब इनका धर्म पूछा गया तो इन्होंने अपना धर्म 'पहाड़' बताया। 'डोंगरिया' लोग पहाड़ के शिखर का वृक्ष नहीं काटते हैं। एक डोंगरिया स्त्री ने कहा, 'हमें पहाड़ की जरूरत है और पहाड़ को हमारी जरूरत है।' 2009 में बेलंवा जन सुनवाई में लाडो सिकोका ने कहा, "लोग कहते हैं कि नियमगिरी के शिखर पर करोड़ों रुपया है। वहाँ रुपया नहीं है। यह हमारा माँ-बाप है और हम उसकी सुरक्षा के लिए लड़ेंगे.........."

आज वैज्ञानिक अध्ययन भी शुद्ध नहीं है। भू-विज्ञान में शोध को भारी राशि खनन उद्योग द्वारा उपलब्ध करायी जा रही है। आदिवासियों की समझ अधिकांश वैज्ञानिकों से ज्यादा अच्छी है। वे जानते हैं कि वाक्साइट खनन पहाड़ को कितनी बुरी तरह नुकसान पहुँचाता है। भारत का सबसे बड़ा बाक्साइट खनन कोरापुट जिले में पंचपट माली में है। नाल्को द्वारा खनन के बाद वर्ष भर बहने वाली जल धाराएँ सूख गई है और हरी-भरी धरती बंजर में बदल गई।

बाक्साइट के लिए रायल्टी 64 रुपए प्रति टन है। मूलभूत अयस्क अत्यंत सस्ते में प्राप्त कर एल्यूमिनियम कंपनियाँ मुनाफा कमाती हैं। पर्यावरण एवं समुदायों को पहुँचे नुकसान का मूल्यांकन किया जाए तो एक टन बाक्साइट का मूल्क हजारों में होगा। कभी भी इसका समुचित मूल्य नहीं प्राप्त किया गया। जमायका की समाजवादी सरकार ने सही मूल्य के लिए जब प्रति टन बाक्साइट की कीमत में कुछ डालर की वृद्धि की तो सी.आई.

ए. ने सरकार को बदले में साजिश करके गिरा दिया। खनन कभी भी न्याय एव टिकाऊ विकास की भावना के साथ नहीं किया गया। हमेशा ही अत्यधिक शोषण का भाव रहा। भारत में खनन अधिनियम के नए मसौदे में इसी बात पर विमर्श होता रहा है कि खनन कंपनियों को अपने 5x काम का अथवा 20x स्थानीय विकास के लिए देना चाहिए अथवा नहीं। इस बहस में यह महत्वपूर्ण बात हमेशा छूट जाती है कि एल्यूमिनियम कंपनियों को कब सबसे ज्यादा फायदा होता है। ध्यान देने की बात है कि यदि कंपनियों को भारी सब्सिडी पर बिजली-पानी न मिले, अवसंरचना विकास पर ऋण न मिले, जिसका भार भारत सरकार पर पड़ता है, वे मजदूरों का अबाध शोषण न करें तो खनन के चरण में कंपनियों को कोई खास लाभ नहीं हो सकता। मूल्य अंतरण (ट्रांसफर प्राइजिंग) की तकनीक ने उत्पादन कंपनियों को पैसे औद्योगिक एन्कलेव में रखा है, जहाँ वे ज्यादा लाभ नहीं कमा सकती है। कंपनियों को बड़ा लाभ होता है लंदन मेटल एक्सचेंज और दुनिया में इसी तरह के अन्य संस्थानों में जहाँ वे मेंटल ट्रेडिंग करते हैं एवं भविष्य की ट्रेडिंग का अनुमान लगाते हैं। यही उन्हें भारी लाभ होता है। कहने की जरूरत नहीं कि यह दुनिया उस बंजर हो गई भूमि से बहुत दूर होती है, जिसे वह खनन और धातु निर्माण के बाद छोड़ जाते हैं।

लौह अयस्क की तरह ही इस्पात उद्योग के लिए क्रोमाइट एवं मैगनीज का भी खनन होता है। गोवा एवं कर्नाटक में अवैध खनन का कारोबार तेजी से हो रहा है। उड़ीसा में इस पर ध्यान दिया गया है, लेकिन वैध एवं अवैध खनन के बीच विभाजन करना प्राय: मुश्किल होता है। वास्तविकता यह है कि जहाँ रायल्टी का भुगतान कर दिया गया है, वहाँ भी खनन द्वारा किए गए नुकसान का मुआवजा देना शुरू नहीं किया गया है। उत्तरी उड़ीसा में लौह अयस्क खनन ने अनेक पहाड़ों को नष्ट कर दिया है। क्रोमाइट खनन की बजह से सुकिंडा (कलिंग नगर के नजदीक) पृथ्वी के दस सबसे अधिक प्रदूषित क्षेत्र में से एक बन गया है। रावघाट क्षेत्र (दक्षिण छत्तीसगढ़), सारंडा जंगल (दक्षिण झारखंड) एवं खंडधारा क्षेत्र (सुंदरगढ़ जिला, उड़ीसा के सबसे ऊँचे जलप्रपात के ऊपर) में नए लौह अयस्क एवं मैगनीज खनन की योजना है। यानी भारत में बचे हुए सबसे घने वनीय क्षेत्र के विनाश की तैयारी है, जो अपने जैव विविधता एवं आदिवासी समुदायों के लिए जाना जाता है।

एल्यूमिनियम उद्योग को समझने की यात्रा में हम उन शक्तियों से भी अवगत होते हैं, जो इसमें साझीदार हैं। लंदन स्थित लेखा कंपनी ''बिग फोर'' ने वेदांता के पक्ष में रिपोर्ट तैयार किया है। टैक्स हैवेन आधारित 'हेज फन्ड' उन वित्तीय संस्थानों में से एक थी, जिन्होंने कंपनी को फंड उपलब्ध कराया। लार्सन एंड टूब्रो तथा आस्ट्रेलिया एवं चीन की बड़ी इंजीनियिंरग फर्में वेदांता की लांजीगढ़, झरसागुडा एवं कोरबा रिफाइनरी एवं स्मेल्टर का निर्माण करने में संलग्न हैं। एल्यूमिनियम एवं इस्पात फैक्टरी द्वारा किए गए विद्युत बिलों के भुगतान की जानकारी आम जन को नहीं होती है। वे अत्यंत कम भुगतान करती हैं। इसके अलावा विलंब से भुगतान करने अथवा भुगतान न करने की खबरें आती रहती है। लोहिया ने इस मुद्दे पर नेहरू का विरोध किया था। रिहंद बाँध (उत्तर प्रदेश के दक्षिण पूर्व) से विद्युत लेने वाली हिंडाल्को कंपनी प्रचलित विद्युत दर के लगभग बीसवें हिस्से के बराबर की दर पर बिजली का भुगतान कर रही थी। हाल ही में संयुक्त राज्य अमरीका का आर्थिक संकट 2008 में आइसलैंड से शुरू हुआ। इस संकट के ठीक पहले तक क्रेडिट रेटिंग एजेंसिया आइसलैंड के जीवन स्तर को दुनिया का सर्वोत्तम जीवन स्तर बता रही थी। आइसलैंड के बैंको को निवेश के लिए सबसे अच्छा बताया जा रहा था। अत्यधिक निवेश ने एल्यूमिनियम उत्पादन को बढ़ा दिया, जिसके लिए बड़े एवं विवादास्पद बाँधों से बिजली ली जा रही थी। एल्यूमिनियम के अर्थशास्त्र ने भविष्य के लिए भी गंभीर खतरे का संकेत दे दिया।

सैन्यीकरण :

इन स्थितियों ने अनेक रूपों में संसाधनों को अभिशाप बना दिया है। चरम पूँजीवाद के युग में दुर्लभ संसाधनों को भी निकाल लेने के लिए दबाव बनाया जा रहा है तथा भारी मात्रा में निवेश किया जा रहा है। इस समय के अधिकांश युद्ध मूलत: संसाधन पर अधिकार के लिए हैं। हम मनुष्यों का पागलपन इस कदर बढ़ गया है कि हम सत्ता संरचना एवं वित्तीय प्रणाली में बदलाव की बजाय संसाधनों की समुचित परस्पर साझीदारी कर शांति से रहने की बजाय धरती के खत्म होते संसाधनों पर पूरी तरह नियंत्रण प्राप्त करने के लिए विशाल संसाधनों का प्रयोग कर रहे हैं।

मध्य भारत में माओवादी संघर्ष भी मूलत: संसाधन युद्ध ही है, हालांकि दोनों पक्ष इसे विचारधारा का संघर्ष बताते हैं। इन क्षेत्रों से खनिज निकालने के लिए ही यहाँ भारी निवेश किया जा रहा है। उससे आदिवासी क्षेत्रों में सुरक्षा बलों की

तैनाती से सुरक्षा खर्च बढ़ रहा है। सुरक्षा बलों के उत्पीड़न के चलते माओवादी संगठनों में भी सदस्यों की संख्या बढ़ रही है। प्रत्येक माओवाद प्रभावित जिले सुरक्षा मजबूत करने के लिए बड़ी राशि पाते हैं।

और यह सुरक्षा किसके लिए? स्पष्ट है कि सामान्य व्यक्ति के लिए नहीं। भारी संख्या में पुलिस बल उन प्रदर्शनकारियों के विरुद्ध तैनात किए जाते हैं, जो पास्को परियोजना से लेकर कुडनकुलम एवं जैतापुर परमाणु ऊर्जा केन्द्रों की स्थापना का विरोध कर रहे हैं। ये सुरक्षा बल मूलत: टाटा स्टील जैसे बड़े घरानों एवं निवेश की सेवा के लिए हैं एवं स्थानीय आदिवासियों के विरुद्ध हैं। इनकी संख्या माओवादियों के विरुद्ध नियमित रूप से तैनात सुरक्षा कर्मियों के अतिरिक्त है। पास्को परियोजना एवं कुडनकुलम को देश की सबसे बड़ी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश परियोजना कहा जा रहा है। बड़ी संख्या में सुरक्षा बलों की तैनाती और विरोधियों के ऊपर सैकड़ों की संख्या में झूठे मामले आरोपित करने से मौजूदा सत्ता संरचना का पता चलता है और यह भी दिखता है कि जिसे विकास कहा जा रहा है, वह चाहे जो हो प्रभावित क्षेत्र के लोगों का विकास तो नहीं ही है।

वास्तविक विकास का अर्थ तो सामान्य मनुष्य को भोजन-पानी उपलब्ध कराना एवं जीवन तथा उसके अधिकारों की सुरक्षा करना है। जब कोई आदिवासी अथवा दलित सुरक्षा बलों द्वारा किए गए उत्पीड़न की रपट लिखाने के लिए थाने जा सके, एफ.आई.आर. लिखी जाए और वह कानून के समक्ष समानता के आधार पर न्याय की उम्मीद कर सके तभी उसे वास्तविक विकास माना जा सकता है। अभी जो स्थिति है, उसमें न्याय काफी-कुछ वकील की फीस पर निर्भर करता है, जबकि सुरक्षा बलों को वर्दी का फायदा मिलता है और कंपनी को प्रदूषण की सीमा पार करने तथा अन्य प्रकार के अपराधों के लिए भी कोई सजा नहीं मिलती। सर्वोच्च न्यायालय ने छत्तीसगढ़ सरकार को सलवाजुडूम तथा एस.पी.ओ. (माओवाद से लड़ने के लिए भर्ती किए गए आदिवासी विशेष पुलिस अधिकारी) को भंग करने का आदेश दिया, क्योंकि इससे गृह युद्ध की आशंका थी। फिर भी इसका पूरी तरह पालन नहीं किया गया और दूसरी राज्य सरकारें भी छत्तीसगढ़ के एस.पी.ओ. माडल की नकल कर रही हैं।

विडंबना यह है कि मध्य भारत का बड़ा क्षेत्र आज दो ध्रुवों में बँटा नजर आता है। या तो लोग माओवाद समर्थक हैं या फिर सरकार एवं कार्पोरेशन के सेवक। इसके बावजूद सरकार की स्टील उत्पादन बढ़ाने की महत्वपूर्ण नीति को माओवादी नीति कहा जा सकता है। १९५८-६० के दौर में माओ की प्रमुख नीति 'ग्रेट लीप फारवर्ड' के कारण करोड़ों की संख्या में किसान खेती छोड़कर स्टील उत्पादक बनने को विवश हो गए थे। इसके चलते चीन में सबसे बुरा अकाल पड़ा। माओ का लक्ष्य था स्टील उत्पादन के क्षेत्र में ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत यूनियन को पीछे छोड़ना। उस समय यह यर्थार्थ परक नहीं था। बड़ी मात्रा में उत्पादन किया गया स्टील अनुपयोगी था, लेकिन जो कोई अकाल की स्थिति, खाद्य की स्थिति और स्टील के उत्पादन की रिपोर्ट करता, उसे मौत के घाट उतार दिया जाता। परिणाम यह हुआ कि चीन दुनिया का सर्वोच्च स्टील उत्पादक देश बन गया और भारत आज चौथे स्थान पर है। यह दौड़ किसलिए? निश्चित रूप से अपने नागरिकों की बेहतरी के लिए तो नहीं ही है।

छत्तीसगढ़ में एस्सार एवं टाटा स्टील परियोजनाओं को सुरक्षा बलों का पूरा समर्थन प्राप्त है। माओवाद ने खनन उद्योग की आलोचना समग्रता में कभी भी नहीं किया। वे अपने को माओवादी कहते हैं और खनन कंपनियों से संरक्षण के लिए धन एवं विस्फोटक प्राप्त करते हैं। वे रणनीतिक रूप से समझौता साधनों का विरोध करते हैं। उनके इस कृत्य से प्राय: आदिवासी आंदोलन की मौत हो जाती है। रावघाट खनन के मामले में ऐसा ही हुआ। माओवादियों ने खनन का विरोध करने की घोषणा की। परिणाम यह हुआ कि हजारों की संख्या में सैन्य बल तैनात किए गए और निर्माण कार्य पूरा हो गया।

माओवादी संघर्ष को हम सीरिया, इराक एवं दूसरे देशों में तेल के लिए चल रहे संसाधन युद्ध से समझ सकते हैं। 'इस्लामिक स्टेट' वही नहीं है जो दिखता है। ऊपर से तो यह घोर पश्चिम विरोधी है, लेकिन इजराइल विरोधी नहीं। तुर्की, इजरायल एवं अन्य राज्य इन्हें धन उपलब्ध कराते हैं, हथियारों की आपूर्ति करते हैं घायलों को चिकित्सा भी उपलब्ध कराते हैं। ऐसा लगता है कि इनका अस्तित्व उत्तरी सीरिया में समाजवादी कुर्दो एवं सीरिया सरकार को मिटाने पर टिका है। यूनाइटेड स्टेट्स अमरीका भी इस्लामी अतंकवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए धन उपलब्ध कराने की वैकल्पिक नीति पर चलता है, खास तौर से उस समय से जब से सी. आई.ए. ने ओसामा बिन लादेन को धन उपलब्ध कराना शुरू किया और सोवियत यूनियन को अपने कदम पीछे खींचने के लिए अफगानिस्तान में उग्र जेहादियों को समर्थन देना शुरू

किया। साफ है कि एक साथ वह दोनों खेल खेल रहा है। क्या माओवादियों का भी कार्य इसी तरह का नहीं है? यदि माओवाद नहीं होता तो सरकार उनकी खोज करती? इस क्षेत्र में माओवाद की उपस्थिति सरकार की हिंसक कार्यप्रणाली को 'वैधता' प्रदान करती है और आदिवासी आंदोलन की परंपरा को कमजोर करती है, जो रणनीतिक रूप से भी अहिंसक बने रहना चाहते हैं, क्योंकि वे यह समझते हैं कि हिंसा के कारण प्रतिशोध को जगह मिलती है।

मौजूदा संसाधन युद्ध का एक अन्य आयाम जनसंपर्क का उपयोग है। युद्ध की स्थिति में जनसंपर्क कंपनियों का व्यापक प्रयोग एवं तकनीक हम देखते हैं। खनन कंपनियों द्वारा भी इसका व्यापक उपयोग किया जा रहा है। 'जनसंपर्क के जनक' एडवर्ड बर्ने सिगमंड फ्रायड के भतीजे थे। उन्होंने फ्रायड को संयुक्त राज्य अमरीका में बहुत लोकप्रिय बनाया और नाजियों से बचने में उनकी मदद की। वे आस्ट्रिया छोड़कर लंदन में बसे। बर्ने ने फ्रायड की मनोविश्लेषण अन्तर्दृष्टि का प्रयोग खुफिया एजेंसियों एवं कार्पोरेशन की सेवा के लिए भी किया। 1954 में बर्ने सी.आई.ए. के लिए कार्य कर रहे थे। उन्होंने ग्वाटेमाला में गजमैन की समाजवादी सरकार की छवि कट्टरवादी कम्यूनिस्ट सरकार के रूप में बनाने में सफलता हासिल की। जनसंपर्क अभियान की इसी पद्धति को हमने स्वीकार कर लिया है। युद्ध का व्यापार करने वाले देशों, राजनीतिक दलों एवं कार्पोरेशन द्वारा बड़े पैमान पर किया गया प्रचार सत्य को ढँक देता है, और दिखाई पड़ने वाला संघर्ष भी आभासी होता है, जिससे सत्य का पता मुश्किल से ही चल पाता है।

वास्तविक विकास एवं संरचनात्मक परिवर्तन की आवश्यकता :

किशन जी सामाजिक आंदोलनों में बुनियादी रूप से विश्वास करते थे। इन्हें बढ़ाने में उनका योगदान व्यााापक एवं गहरा है। विस्थापन एवं 'गैर टिकाऊ' (ऐसी परियोजनाएँ जो प्रकृति एवं परवर्ती जीवन में अनुकूल न हों) परियोजनाओं के विरोध में आज देश में सैकड़ों आंदोलन चल रहे हैं। लैटिन अमरीका एवं पूरी दुनिया में इनकी संख्या हजारों में है। जब भी किसी बाँध, खनन अथवा कारखाना के विरुद्ध इस तरह के आंदोलन होते हैं तो इन्हें 'विकास विरोधी' कहा जाता है। अनेक सवाल उठते हैं। क्या ये समुदाय सचमुच राष्ट्रीय विकास के विरुद्ध हैं? अथवा क्या अभिजात राष्ट्रवादी शक्तियाँ इन समुदायों की स्थानीय विकास की अवधारणा के विरुद्ध हैं? जिसके परिणाम स्वरूप स्थानीय समुदायों को ही त्याग करना पड़ता है। प्रथम दृष्टया ये आंदोलन जमीन अथवा संसाधनों के अधिग्रहण के विरुद्ध दिखते हैं, लेकिन मूलत: इनका जोर लोगों को जीवन का अधिकार खाद्य, जल एवं सुरक्षित जीवन-दिलाने पर रहता है। ये आंदोलन शताब्दियों से ऊपर से थोपी गई विकास की अवधारणा के वरक्स स्थानीय एवं स्वदेशी विकास की अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

विकास अखंड प्रक्रिया है, एकरेखीय है और इसके निर्धारित चरण है, यह विचार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष एवं विश्व बैंक द्वारा प्रोत्साहित एकरूपता एवं निर्मम शोषण को ही औचित्यपूर्ण साबित करता है, जिसने सभी देशों एवं क्षेत्रों को 'विकसित', विकासशील' एवं 'अविकसित' के रूप में बाँट दिया है। विश्व बैंक पोषित विकास परियोजनाएँ' कार्य स्थिति, पानी एवं खाद्य सुरक्षा अथवा इसी प्रकार की अन्य चीजों की दृष्टि से अधिकांश लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाने का कार्य नहीं करती हैं, बल्कि इसके विपरीत कार्य करती हैं। वे उच्च कुशल खेतीहरों को 'अकुशल श्रमिको' में बदल देती हैं, दूर रहने वाले अभिजात लोगों के लाभ के लिए कुछ वर्षों तक जमीन का शोषण करने के बाद उसे बंजर भूमि के रूप में छोड़ देती हैं। इनके कारण राज्य एवं केन्द्र सरकारों का ऋण बोझ बढ़ता जाता है, जिसका भुगतान नहीं हो पाता। बदले में वे खनन कंपनियों के पक्ष में नीति निर्धारण कराने में सरकारों का उपयोग करती हैं।

यदि यूनाइटेड किंगडम एवं अन्य 'विकसित देश' वास्तव में उच्च विकसित हैं तो अब उनका सकल घरेलू उत्पाद लगभग शून्य क्यों है? इनकी अपेक्षा भारत में सकल घरेलू उत्पाद अधिक है, जिसका आधार शुद्ध रूप से संसाधनों की लूट के लिए किया जा रहा भारी निवेश है? जब श्रीमती थैचर ब्रिटेन की प्रधानमंत्री थीं, तो उन्होंने फाकलैंड युद्ध जीतने के बाद ब्रिटेन के कोयला खनन को बलपूर्वक बंद करा दिया, क्योंकि दूसरे देशों में कोयला ज्यादा सस्ता था। वहाँ मजदूर असंगठित हैं, उनके अधिकार कम हैं और पर्यावरण संबंधी कानून भी सख्त नहीं हैं। कोयला कंपनियों के अलावा उन्होंने एल्यूमिनियम एवं इस्पात निर्माण उद्योग को भी बंद करा दिया। उन्होंने इन वस्तुओं को 'विकासशील देशों से आउट सोर्स करने यानी मंगाने का निर्णय लिया। इस बात से विकासशील देश उत्साहित हुए। उन्हें लगा कि वे 'विकसित' हो रहे हैं। इसके लिए उन्होंने अपने पारिस्थितिकी

तंत्र एवं समुदायों के साथ जबरदस्ती किया।

लेकिन श्रीमती थैचर ने एयरोस्चेस, रक्षा एवं शस्त्र उद्योग को अपने पास रखा।' विकसित देशों' के सबसे बड़े उद्योग पिछले वर्षो में शस्त्र उद्योग रहे हैं, जिसका परिणाम युद्ध है। अत्यंत प्यारे देश स्वीडन में भी, बोफोर्स है और भारत में इसका भ्रष्टाचार कुख्यात रहा है। इस कंपनी का एक रोचक इतिहास है। जब अल्फ्रेड नोबल इसके निदेशक हुए तो उन्होंने इसे स्टील कंपनी से शस्त्र कंपनी में बदल दिया। जब उन्होंने देखा कि उन्हें 'मौत का सौदागर' कहा जा रहा है तो उन्होंने नोबल शांति पुरस्कार की स्थापना की ताकि उनकी छवि युद्ध की जगह शांति को प्रोत्साहित करने वाले व्यक्ति के रूप में बने और सुरक्षित रहे। भारत में भ्रष्टाचार पर चर्चा करना आसान है, लेकिन विकसित देशों का भ्रष्टाचार देखना कठिन है, जो मूलत: भ्रष्टाचार के स्रोत हैं। यूनाइटेड किंगडम में टोनी ब्लेयर ने सीरियस फ्राड आफिस द्वारा की जा रही जाँच को सिर्फ इस आधार पर रोक दिया कि इससे राष्ट्रीय सुरक्षा को नुकसान पहुँचेगा, जबकि ब्रिटिश एयरोस्पेस पर भारी घूस देने का आरोप था।'शस्त्र उद्योग' में भ्रष्टाचार उनकी कार्यप्रणाली का हिस्सा है। कोई भी बड़ा सौदा बड़े पैमाने पर 'प्रलोभन' के बगैर नहीं पूरा होता है। ब्रिटेन के चारो तरफ टैक्स हैवेन है, जो कराधान से बचने के साथ-साथ काला धन के लिए भी सुरक्षित हैं।

आदिवासी क्षेत्रों में कार्यरत प्रशासन पूरी तरह से 'विकास' के प्रति समर्पित है, जबकि सच्चाई यह है कि एक उच्च विकसित सामाजिक संरचना को विकास विहीन किया जा रहा है। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में जब ब्रिटिश शासन की शुरूआत की। उस समय भले ही ब्रिटेन सैन्य रणनीति एवं प्रौद्योगिकी के मामले में ज्यादा विकसित रहा हो, भले ही क्षेत्रों के अधिग्रहण में कानून एवं पैसे के दुरूपयोग में महारत हासिल रही हो, लेकिन कई मामलों में भारत सांस्कृतिक रूप से ज्यादा विकसित था। आज जिसे बहुसंस्कृतिवाद कहते हैं, वह भारत में पहले से ही था। भारत में अनेक धर्मो एवं समुदायों के लोग शांतिपूर्वक एक-दूसरे के साथ रहते थे। निर्माण का क्षेत्र भी उच्च गुणवक्ता से युक्त था। आखिर ब्रिटेन के शासन से सकरात्मक परिवर्तन क्या हुआ? वस्तुत: तो विकासमें कमी आई। यहाँ का वस्त्र उद्योग खत्म हो गया और हमारी संस्कृति बहुलता भी कमजोर हुई। हिंदू-मुस्लिम संघर्ष विशेषकर 1857 के बाद तेज हुआ।

इसी तरह की विकासहीनता आदिवासी क्षेत्रो में भी हुई। जनजातीय भूमि के अधिग्रहण एवं सीधे विस्थापन के चलते लोगों के जीवन की गुणवत्ता में हास हुआ।'आदिवासी विकास' के लिए बहाया जा रहा धन न केवल भ्रष्टाचार का प्रमुख स्रोत (पत्रकार पी. साईनाथ ने इसका विवरण एकत्र किया है) है, बल्कि 'आत्मसातीकरण' की गोपनीय नीति का औजार भी है। हाल ही में पी.वी.टी.वी. (विशेष रूप से संवेदनशील आदिवासी समूह) के लिए 'नई नीति' की घोषणा की गई। इसका उद्देश्य भी पुरानी नीति को लागू करते हुए विशेष रूप से सड़क एवं शिक्षा के द्वारा तीव्र विकास को अंजाम देना है। इस फंड का उद्देश्य भी डोंगरिया एवं बैगा समुदाय द्वारा पर्यावरण की सुरक्षा के लिए चलाए जा रहे मजबूत आंदोलन को कमजोर करना ही है।

नियमगिरी में प्रधानमंत्री सड़क निर्माण निधि एवं डोंगरिया कोंड विकास एजेंसी के समन्वय से सड़क का निर्माण किया गया। स्पष्ट है कि ये सड़के उद्योगों के हित में बन रही है। इनका उपयोग कंपनी के लोग, लकड़ी माफिया एवं सी.आर.पी.एफ. के लोग करते हैं, जो डोंगरिया गाँवों को शुरू से डराते-धमकाते रहे हैं। सामान्यत: सड़कों के निर्माण से बाजार का दबाव बढ़ता है, आदिबाजी क्षेत्रों की स्वायत्तता खत्म होती है तथा शोषण प्रणाली एवं लकड़ी माफिया के बीच साझेदारी बनती है।

जहाँ तक शिक्षा का सवाल है, अपवाद के रूप में ही जनजातीय मानकों का उपयोग करते हुए सांस्कृतिक रूप से उपयुक्त एवं उत्कृष्ट शिक्षा दी जाती है। सरस्वती एवं आश्रम विद्यालयों में ज्यादातर शिक्षा प्रचारात्मक रूप में होती है, जिसके आदिवासी संस्कृति, ज्ञान एवं जीवन मूल्यों के प्रति संवेदनशीलता का अभाव होता है। भुवनेश्वर स्थित कलिंग इस्टीट्यूट आफ सोशल साइंस जैसे संस्थान आदिवासियों पर खंडित 'ज्ञान' के मानक रूप एवं हिन्दुत्ववादी संस्कृति को लादते हैं। आदिवासी समुदाय में गायन एवं नृत्य परंपरा की समृद्ध बहुलता है, प्रतिस्पर्द्धा के समाधान के लिए राजनीतिक परिषद एवं कानूनी प्रक्रिया के रूप में स्वशासन एवं स्वप्रबंधन की प्रणाली है। जंगल एवं स्वनिर्भरता के बारे में उनका ज्ञान गंभीर है। आदिवासी अर्थशास्त्र पारिस्थितिकीय सिद्धांतों पर आधारित है और यह आत्मनियंत्रण भी है कि जंगल से क्या लेना है, कितना लेना है? यह सब तेजी से खत्म होता जा रहा है।

बलपूर्वक आत्मसातीकरण की नीति नई नहीं है। यह प्रत्यक्ष नरसंहार की उसी नीति का अनुकरण है, जिसका प्रयोग करके संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया एवं अन्य देशों में स्थानीय जनता को उनकी भूमि से वंचित करके

उन्मूलित कर दिया गया। वास्तविक विकास तभी होगा जब पुरानी सत्ता संरचना का परिवर्तन इस रूप में हो कि सत्ता संरचना और आर्थिक प्रणाली दोनों लोकतांत्रिक नियंत्रण में हो। क्या हम कभी सामूहिक रूप से ऐसी स्थिति में पहुँच पाएँगे, जिसे जेल में बंद कुर्द नेता और राजनीति विज्ञानी अब्दुल्लाह ओककाल ने 'लोकतांत्रिक सभ्यता' कहा है?

ऐसा होने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान एवं ज्ञान के अन्य क्षेत्रों के विद्यार्थी अपनी परंपरा का परीक्षण करना शुरु करें। विरासत में मिली अपनी संस्थाओं को हम इस रूप में बदलें कि बेहतर दुनिया बना सकें। हम जानते हैं कि यह संभव है। भारत में प्राप्त ज्ञान के बारे में प्रश्न पूछने की समृद्ध परंपरा रही है। यह परंपरा हमें उपनिषद में नचिंकता द्वारा अपने पिता के भौतिकवाद के संबंध में किए गए सवालों में मिलती है, बुद्ध के चिंतन में मिलती है और 19वीं तथा 20वीं शताब्दी के कई महान चिंतकों एवं सुधारकों में दिखाई पड़ती है। भारत ने विश्व के सामने स्वतंत्र चिंतन एवं आत्म विकास का आदर्श प्रस्तुत किया है। ध्यान का उद्देश्य ही मन एवं बुद्धि को सामूहिक एवं व्यक्तिगत संभ्रम से मुक्त रखना है। क्या स्वतंत्र चिंतन की यह परंपरा फिर से विकसित हो सकती है, जिससे आज अनेक क्षेत्रों में विचारों को अवरूद्ध करने वाली हिंदुत्ववादी मानकीकरण का सामना किया जा सके?

आज जिस प्रकार का ध्रुवीकरण है, उसमें इतिहास के सबसे बुरे ध्रुवीकरण की गूंज सुनाई पड़ती है। स्पेन का गृहयुद्ध वाम एवं दक्षिण के बीच था। उसका अंत वाम के नरसंहार के रूप में हुआ। ग्रीस, इंडोनेशिया, अनेक लैटिन अमरीकी देशों, श्रीलंका आदि में भी उन्मूलन के लिए यही पद्धति अपनाई गई। हम एक-दूसरे से बात करने में लगे रहे और स्पेन के गृह युद्ध के दौरान समाजवादी, कम्यूनिस्ट एवं अराजकतावादी के रूप में बँटे रहे। कुछ बिंदुओं पर हमें दूसरे पक्ष को यह समझाना होगा कि समाजवादी समाज निष्प्रभ अथवा गरीब नहीं होता, कि केवल उपभोग करने की तुलना में परस्पर साझेदारी से ज्यादा आनंद मिलता है, कि केवल अपनी स्वार्थपूर्ति से आनंद एवं प्रसन्नता नहीं मिल' सकती...।

युद्ध एवं संघर्ष में वृद्धि होने के बावजूद कई वजहों से यह आशा बनी है कि दुनिया में समाजवाद का पुनरोत्थान हो सकता है। कुर्दों से एक नई उम्मीद बनी, ब्रिटेन में लेबर पार्टी के नेता के रूप में जेरेमी कार्बिन चुने गए, जबकि उन्होंने नवउदारवादी मूल्यों का विरोध किया था, जिसकी गिरफ्त में अधिकांश पार्टियां हैं, अन्य देशों में इस तरह की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। लेकिन परिवर्तन की सबसे ज्यादा आशा उन जन आंदोलनों से है, जो भारत एवं अन्य देशों में अप्रतिस्थापनीय पारिस्थितीकीय तंत्र की सुरक्षा के लिए संघर्षरत है। इसका अर्थ यह है कि वे भावी पीढ़ी के लिए प्राकृतिक संसाधनों को बचाए रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इस तरह के आंदोलन उड़ीसा में बहुत मजबूत है और उन्हें नियमगिरी तथा पास्को के मामले में सफलता भी मिली है। किशन जी को इन सफलताओं से प्रसन्नता मिलती।

भारतीय इतिहास की शुरूआत अशोक के कलिंग युद्ध से होती है, अशोक ने स्वयं इस युद्ध का विवरण शिलालेख के रूप में दर्ज कराया था, इसलिए यह भारतीय इतिहास का पहला 'तथ्य' है। जानकारी के अनुसार कलिंग ने मौर्य साम्राज्य के विरुद्ध कड़ा संघर्ष किया। अशोक के अनुमान से एक लाख लोग मारे गए, डेढ़ लाख लोग दास बनाए गए और इससे कई गुना युद्ध के बाद अकाल और रोग से मरे। गंभीर विडंबना यह है कि इस्पात संयत्रों के शहर का नाम भी कलिंग नगर है। आज यह जमीन के अधिग्रहण एवं पूँजीवाद की आक्रामकता का मॉडल है। अशोक की हिंसा एवं आक्रमण की गूँज सुनाई पड़ती है और कलिंग इंस्टीट्यूट आफ सोशल साइंज आदिवासियों के मन पर विजय की कहानी रच रहा है। अर्थशास्त्र' मैं मौर्य साम्राज्य की इस नीति का उल्लेख है कि वे शत्रु राज्य के विरूद्ध जंगल के आदिवासी क्षेत्र को बफर क्षेत्र के रूप में इस्तेमाल करते थे। इसके बावजूद कोंड उनकी अपनी भाषा में कुइंगा-निश्चित रूप से वहीं लोग हैं, जो कलिंग युद्ध में जीवित रह गए थे। उन्होंने दो हजार वर्षो बाद भी अपनी मौखिक एवं कृषि परंपरा को अक्षुण्ण रखा है। हम अगले दो हजार वर्षो तक उनके बेहतर जीवन की निरंतरता को कैसे सुनिश्चित करेंगे।

हम सच्चा लोकतंत्र कैसे कायम करेंगे? दिन पर दिन नृशंसता, भ्रष्टाचार एवं संघर्ष बढ़ता जा रहा है। क्या इसके बदले हम शांति एवं साझेदारी वापस ला पाएंगे? किशनजी ने कहा है, विकल्पों की कोई कमी नहीं है। हमें अपने विश्वास को दृढ़ बनाने की जरूरत है। चारों तरफ दिखने वाले शोषण एवं प्रभुत्व की स्थिति में बदलाव आवश्यक है, वांहनीय है एवं संभव भी।

(समाजवादी जनपरिषद, दिल्ली द्वारा आयोजित किशन पटनायक स्मृति व्याख्यानमाला में प्रसिद्ध नृशास्त्री फेलिक्स पाडेल का व्याख्यान)

अनुवाद : संजय गौतम

●

पुस्तक चर्चा

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ

परमाणु विकिरण पर शोधात्मक उपन्यास

संजय गौतम

सभ्यता के मौजूदा मॉडल में ऊर्जा की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। विद्युत उत्पादन के प्राकृतिक संसाधन खत्म होते जा रहे हैं। यूरेनियम की प्राप्ति को देश की सबसे बड़ी उपलब्धि माना जा रहा है, जिससे परमाणु केन्द्रों की स्थापना की जा सके और परमाणु केन्द्र का विरोध करने वालों को विकास विरोधी ही नहीं बल्कि देशद्रोही भी माना जा रहा है। 'विकास' का नशा पूरी दुनिया में इस कदर है कि यूरेनियम की खदानों, परमाणु केन्द्र से होने वाले विकिरणजन्य रोगों, विकारों, विस्थापन जन्य पीड़ा प्रकृति के विनाश जैसे सारे सवाल बेमानी और पिछड़ी मानसिकता के बताए जा रहे हैं, फिर भी पूरी दुनिया में इनके विरुद्ध, विकास के इस मॉडल के विरुद्ध अभियान चल रहा है।

महुआ माजी के उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' को इसी अभियान के रचनात्मक एवं संवेदनात्मक प्रमाण के रूप में देखा जाना चाहिए। लगभग तीन वर्ष पहले यह उपन्यास प्रकाशित हुआ और अपनी उसी नवीनता के चलते काफी चर्चित हुआ। हिंदी में यह पहला वृहद उपन्यास है, जो विकिरणजन्य समस्या को विस्तार से प्रकट करता है, आदिवासियों की विस्थापन संबंधी समस्या को संवेदनशीलता के साथ उजागर करता है और परमाणु संबंधी विश्वनीति, दुर्नीति, दृष्टि को सामने लाता है। प्रकारांतर से उपन्यास में आदिवासी क्षेत्र के प्रति अंग्रेजों की दृष्टि, साजिशों एवं नीतियों को भी तथ्यों के आधार पर सामने लाया गया है। इस तरह यह ऐसा शोधात्मक वृहद दस्तावेजी उपन्यास बन गया है, जिसमें आदिवासियों की समस्या के साथ-साथ संपूर्ण मनुष्यता पर आसन्न खतरे को वर्णनात्मक कथा भाषा में, प्रकृति और मनुष्य के परस्पर संबंधों के राग-रंग के साथ संवेदनशीलता से लिखा गया है। इसे पढ़ते हुए हमें जंगल जीवन के तमाम विचित्रताओं, परंपराओं, औषधियों, जानवरों के स्वभाव, मिथक, कथाओं के साथ ही साथ खदानों की प्रविधि, विकिरण विरोधी आंदोलनों, दृष्टियों एवं सत्ता की साजिशों एवं क्रूरताओं का सहजता से पता चलता है।

कहने को लेखिका ने एक काल्पनिक स्थल 'मरंग गोड़ा' का सृजन किया है, जहां यूरेनियम की खदान है। यह स्थल सारंडा के जंगल में है। इसकी सीमाएँ झारखंड, उड़ीसा एवं पश्चिम बंगाल तक हैं। यूरेनियम की खदान से जो पावडर निकलता है, वहाँ के कर्मियों के शरीर पर यों ही पुता रहता है, वो उसके खतरे से अनजान हैं। खदान का कचरा टेलिंगस डैम में प्रवाहित कर दिया जाता है, जिसकी परत सूखकर सफेद हो जाती है। लोग इसके खतरे को जाने बिना इस पर से आवा-जाही करते रहते हैं।

उपन्यास का केन्द्रीय पात्र सगेन इन खतरों को जानता-पहचानता है और नियम-कानून के तहत जागरूकता फैलाने एवं कंपनी के अधिकारियों से सुरक्षा के मान अपनाने के लिए आंदोलन करता है। सगेन के ततंग (दादा जी) भी इसी खादान में काम करते थे। सगेन का बचपन ज्यादातर अपने दादा की उंगली पकड़ कर ही बीता है। वे उसे अपने साथ जंगल ले जाते थे और जंगल जीवन की अनेक कहानियाँ सुनाते थे। इस प्रक्रिया में पाठकों को जंगल के बारे में तमाम बातें सहज ढंग से पता चल जाती है।

उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष घटित होता है सगेन, चारिबा और आदित्यश्री के संयोग से। आदित्यश्री विकिरण से प्रभावित लोगों के संबंध में गोपनीय तरीके से एक फिल्म का निर्माण कर लेते हैं और इसे दिखाने का मौका उन्हें जापान में मिल जाता है, जहाँ हिरोशिमा और नागासाकी के विरोध में शांति दिवस का आयोजन किया जाता है और पूरी दुनिया से शांति संगठन आते हैं। दूसरे वर्ष इसी अवसर पर सगेन को भी आमंत्रित किया जाता है। अब वे मोआर (मरंग गोड़ाज आर्गनाइजेशन अगेन्स्ट रेडियेशन), झारखंड के अध्यक्ष हैं। इस प्रकार मरंग गोड़ा से निकलकर वह अन्तर्राष्ट्रीय आंदोलन, संस्थाओं से जुड़

जाते हैं और विकिरण की विश्वव्यापी समस्या से दो-चार होते हैं। उन्हें परमाणु ऊर्जा के पक्ष में एवं उसके विपक्ष की विश्वव्यापी शक्तियों का पता लगता है। वे उन वैज्ञानिकों को भारत भी आमंत्रित करते हैं जो विकिरण के प्रभावों का अध्ययन करने एवं सुरक्षात्मक प्रविधि पर शोध करने में लगे हैं। मोआर के आंदोलन के प्रभाव से खदान में कई सुरक्षात्मक उपाय किए जाते हैं। टेलिंगस डैम की चहारदीवारी इत्यादि बन जाती है। संवेदनशील क्षेत्र में लोगों का जाना रोक दिया जाता है।

लेकिन क्या विकिरण जैसी चीज का प्रभाव चहारदीवारी बनाकर रोका जा सकता है या सुरक्षात्मक उपकरणों से काम चल सकता है? यह प्रश्न भी उपन्यास के मूल में है, इसलिए विकास के वैकल्पिक मॉडल की भी चर्चा की गई है। सगेन को लगता है कि आदिवासी मॉडल ही दुनिया के लिए सुरक्षित मॉडल है। उपन्यास के अंत में पूरी दुनिया से की गई उसकी अपील विकिरण एवं विकास की समस्या को बड़े परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है। उसे इस विडंबना का बोध हो गया है कि जापान जैसा इस त्रासदी का शिकार रहा देश भी परमाणु संयत्रों की स्थापना में लगा हुआ है। यह सच भी उसके सामने आ चुका है कि जापान की इंपीरियल नेवी ने ही अमरीका के पर्ल हार्वर पर आकस्मिक सैन्य हमला करके अमरीका को युद्ध में शामिल होने के लिए उकसाया था। गंभीर बोध से संपृक्त उसकी अपील दुनिया से नई राह पर चलने का आह्वान है।

उपन्यास में दुनिया के कुछ लोगों के लिए असीम सुख-सुविधा जुटाने के लिए प्राकृतिक संसाधनों की लूट का इतिहास परत-दर-परत उजागर है। मुगल काल, ब्रिटिश काल से लेकर आज तक का सिलसिला आदित्यश्री, ब्रिटेन की शोधार्थी प्रज्ञा, जंगल प्रेमी पिता के पुत्र अभिषेक, सगेन, चारिबा की बातचीत से उजागर हो जाता है। जिस क्षेत्र में जितनी ज्यादा प्राकृतिक संपदा है, उस क्षेत्र में उतनी ही गरीबी है, लूट है, बार-बार का विस्थापन है। इसीलिए उपन्यास में सगेन ने वैकल्पिक विकास मॉडल की बात की है। विकिरण के परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह खतरा केवल आदिवासी क्षेत्र पर ही नहीं है, बल्कि मनुष्य मात्र पर है। इसलिए आज दुनिया के सभी मनुष्यों को विकास की अंधी दौड़ पर विचार करना पड़ेगा। उसे अपनी सुख-सुविधाओं को सीमित करना होगा। प्राकृतिक विनाश की ओर ले जाने वाली सत्ता व्यवस्था को चुनौती देनी होगी।

उपन्यास में आदित्यश्री एवं जापानी लड़की मोमोका का अधूरा प्रेम, प्रज्ञा के साथ उसका संबंध, सगेन और चारिबा का आत्मिक प्रेम, औपन्यासिक बुनावट को आत्मीय और प्रेमिल बनाता है। उपन्यास की आँखें जापान के गाँवों तक जाती हैं और वहाँ की रुढ़ियों तक भी। वहाँ सिर्फ भव्यता, सौंदर्य और खुलापन ही नहीं है, बल्कि गरीबी भी है और ऐसी रुढ़ि भी, जिससे मोमोका चाहते हुए भी आदित्यश्री से शादी नहीं कर पाती है।

उपन्यास का फलक व्यापक है। विकिरण, विस्थापन एवं विकास की समस्या को समेटने के लिए लेखिका ने सगेन के दादा से कहानी शुरू करके विकिरण विरोधी गैर सरकारी संगठन के गठन और कार्यप्रणाली तक कथा को फैलाया है। जाहिर है, इतने व्यापक फलक को वर्णनात्मक कलाभाव में ही विस्तार दिया जा सकता है। उपशीर्षकों में बँटे होने से रोचकता बढ़ी है। उपन्यास अपने उद्देश्य को पूरा करने में सफल हुआ है। जिन लोगों की रुचि इन समस्याओं में है उनके लिए तो संवेदनशील ढंग से इस शोधात्मक उपन्यास से जुड़ना प्रीतिकर होगा ही। उन्हें भी इससे जुड़ना चाहिए जो विकास की अंधी दौड़ में शामिल होने को ही 'देश प्रेम' मान रहे हैं। संभव है इसकी संवेदना उन्हें पुनर्चिंतन के लिए विवश करें।

पुस्तक - **मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ**, लेखिका - **महुआ माजी**, प्रकाशक - **राजकमल प्रकाशन**, नई दिल्ली, मूल्य - रु. 495/- ●

''आधुनिक सभ्यता ने हमें उपनिवेश बनाया है। प्राचीन सभ्यता ने हमें समता-विरोधी और मानव-विरोधी बनाया है। इन बिन्दुओं पर अगर हम सभ्यता का संघर्ष नहीं चलाते हैं तो हमारी राजनीति, प्रशासन, अर्थव्यवस्था कुछ भी नहीं बदलनेवाली है। इसके बिना हमारे साहित्य, कला, विज्ञान के क्षेत्र में भी कोई उड़ान नहीं हो सकेगी।'' –किशन पटनायक

नास्तिकवाद का सदाशय राजदूत : लवणम

डॉ. रणजीत

संसार के पहले 'नास्तिक केन्द्र' विजयवाड़ा के संस्थापक श्री गोपा राजू 'गोरा' की दूसरी सन्तान और उनके रचनात्मक क्रांतिकारी कार्यों को आगे बढ़ाने वाले, 'नास्तिकवाद के सदाशय राजदूत' कहे जानेवाले 85 वर्ष की आयु में भी सक्रिय लवणम जी का इस 14 अगस्त 2015 के दिन निधन हो गया, यह सूचना मुझे उनके छोटे भाई डॉ. विजयम ने टेलीफोन पर दी। अभी बीस दिन पहले ही गोराजी की चालीसवीं बरसी पर संयोग से आयोजित सेमीनार में 25 जुलाई के दिन मैं मुख्य अतिथि वक्ता के रूप में विजयवाड़ा में था और 26 को स्थानीय अस्पताल के आइसीयू यूनिट में भरती लवणम जी से मिलकर आया था।

लवणम ने भूदानी आचार्य विनोबा के साथ उनके दुभाषिये के रूप में हजारों किलोमीटर की पदयात्रा की, और 61-62 में वे मंत्रियों की शानशौकत पूर्ण जीवनशैली के विरुद्ध आयोजित गोराजी के 'लाँग मार्च' में शामिल होकर 99 दिन में 1100 किलोमीटर पैदल चलकर प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के तीनमूर्ति भवन तक पहुँचे थे।

लवणमजी ने अपने पिता की सामाजिक क्रांतिकारी विरासत को आगे बढ़ाते हुए स्वयं उच्चब्राह्मण परिवार में जन्म के बावजूद एक अछूत परिवार की लड़की हेमलता से शादी की और गाँधी जी का आशीर्वाद पाया, जिन्होंने उन दिनो तक उन्हीं शादियों में शामिल होने का निश्चय कर लिया था, जिसमें वर या वधू में से एक हरिजन हो। हेमलता ने अपनी सास सरस्वती के रास्ते पर चलते हुए लवणम के कंधे से कंधा मिलाकर जोगनियों (देवदासियाँ जिन्हें ग्राम-वेश्याएँ बनाकर रखा जाता था।) और जरायमपेशा जनजातियों के पुनर्वास के क्रान्तिकारी कार्य में अपना जीवन समर्पित किया।

आंध्र प्रदेश के निजामाबाद और मेडक जिले में लवणम-हेमलता की टीम के कार्य शुरू करने से पहले क्रमशः दो हजार और चार सौ ऐसी स्त्रियाँ थीं, जिन्हें देवदासी परंपरा के अन्तर्गत, ज्यादातर दलित परिवार, उनके बचपन या किशोर अवस्था में ही अपनी बेटियों को किसी पत्थर की देवमूर्ति से ब्याह कर मंदिर को भेंट दे देते थे। ये लड़कियाँ पहले मंदिर के पुजारियों और गाँव के वर्चस्ववान लोगों की वासना-तृप्ति करती थीं और प्रौढ़ावस्था में सामान्य ग्रामवेश्याओं का जीवन जीती थीं। लवणम और उसके नास्तिक साथियों ने इन जिलों में उनकी मुक्ति और पुनर्वास का कार्य, स्थानीय सिविल सोसाइटी, प्रदेश सरकार और अन्तर्राष्ट्रीय अनुदान एर्जेसियों की सहायता लेते हुए, प्रारंभ किया और सन दो हजार ईस्वी तक इन जिलों से इस जोगिनी प्रथा को समाप्त कर, इन युगों से शोषित स्त्रियों को समाज की मुख्य धारा में शामिल कर लिया।

लवणम के अन्य रचनात्मक कार्यों में भूतपूर्व जरायमपेशा आदिवासियों का पुनर्वास और आंध्र के माओवादियों को शस्त्र छोड़कर राजनैतिक प्रक्रिया में शामिल करने के प्रयास प्रमुख हैं।

लवणमजी को अपने समाज कार्य के लिए अनेक पुरस्कारों से नवाजा गया, जिनमें 2009 का जमनालाल बजाज पुरस्कार और इन्टरनेशनल सर्विस सोसाइटी, मिशिगन, संयुक्त राज्य अमेरिका का 2010 का लाइफ टाइम अचीवमेंट अवार्ड प्रमुख हैं। भारत में रचनात्मक कार्यों के अनुभव से सम्पन्न लणम् अमेरिका की अपलैण्ड इंस्टीट्यूट की छात्रवृत्ति पर 66-67 में पहली बार अमेरिका गये और वहाँ से जापान, कोरिया, हांगकांग, थाईलैण्ड, लसगापुर और श्रीलंका की यात्रा की और इन देशों के विवेकवादी, मानववादी और नास्तिक संगठनों से संपर्क में आये। 1978 में लवणम और हेमलता अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मानववादी संघ (IHEU) के आमंत्रण पर उसके लंदन अधिवेशन में गये और वहाँ से योरोप और फिर अमेरिका की यात्रा की और हालैंड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क और

पश्चिमी जर्मनी के विवेकवादी संगठनों से सम्पर्क किया। अमेरिका के पन्द्रह राज्यों में उन्होंने गोरा के 'पाजीटिव एथीइज्म' पर व्याख्यान दिये। 1980 में फिर लवणम ने विजयवाड़ा के नास्तिक केन्द्र में दूसरे विश्व नास्तिक सम्मेलन की तैयारी के सिलसिले में अमेरिका की यात्रा की। टोरन्टो में सुप्रसिद्ध मानववादी विचारक पॉल कर्ज से उन्होंने विचार विमर्श किया। 1981 में लवणम सोवियत संघ गये और उन्होंने वहाँ के वैज्ञानिक सास्तिकता संस्थान के निदेशक प्रो. विक्टर गरादजा से विचारों का आदान-प्रदान किया। इसी वर्ष वे विवेकवादियों के विश्व के सबसे पुराने संगठन (स्थापना : 1880) 'वर्ड यूनियन ऑफ फ्री थिंकर्स' के स्विटजरलैण्ड में आयोजित सम्मेलन में आमंत्रित किये गये। जून 1983 में हेलसिंकी, फिनलैण्ड में फ्री थिंकर्स ने तीसरा विश्व नास्तिक सम्मेलन आयोजित किया, पहले दोनों विजयवाड़ा में सम्पन्न हुए थे, लवणम इसके संयोजकों में से एक थे और उन्होंने यहाँ प्रस्तुत शोधपत्र में उत्तर धार्मिक और उत्तर राष्ट्रीय मानव समाज की धारणा प्रस्तुत की, धर्मों और राष्ट्रों की सीमाओं से मुक्त एक सार्वभौम और सच्चे अर्थों में मानवीय समाज की। इन्हीं सब गतिविधियों के कारण वे नास्तिकवाद के सदाशय राजदूत कहलाये।

आठवीं के बाद स्कूल छोड़ देने वाले इस स्वाध्यायी विद्वान विचारक और अपने क्रांतिकारी अग्रज को मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि!!

सम्पर्क : 09010303518

प्रगतिशील लेखक डॉ. रणजीत की उपलब्ध पुस्तकें

1. आजादी के परवाने – भारतीय स्वतंत्रता संग्रामों के 287 शहीदों के प्रामाणिक इतिवृत्त। **दो खण्ड,** पृष्ठ 560, मूल्य आठ सौ रुपये।
2. हिन्दी की प्रगतिशील कविता (शोध) पृष्ठ 312, मूल्य तीन सौ।
3. हिन्दी के प्रगतिशील और समकालीन कवि (समीक्षा) पृष्ठ 328, मूल्य 400.00
4. ये बस्ती है बटमारों की (कविता संग्रह) पृष्ठ 96 मूल्य 200.00
5. इतना पवित्र शब्द (प्रेम कविताएँ) पृष्ठ 76, मूल्य 60 रुपये
6. खतरे के कगार तक (कविता संग्रह) पृष्ठ 82, मूल्य 80 रुपये
7. अभिशप्त आग (कविता संग्रह) पृष्ठ 132, मूल्य 100 रुपये
8. प्रतिनिधि कविताएँ (कविता संग्रह) पृष्ठ 166, मूल्य 200 रुपये
9. प्रगतिशील कविता के मील पत्थर (संपादित कविताएँ), पृष्ठ 324, मूल्य 200 रुपये
10. धर्म और बर्बरता (संपादित आलेख) पृष्ठ 142, मूल्य 150 रुपये
11. साम्प्रदायिकता का जहर (संपादित आलेख) पृष्ठ 244 मूल्य 250 रुपये
12. जाति का जंजाल (संपादित आलेख) पृष्ठ 242 मूल्य 250 रुपये
13. भारत के प्रख्यात नास्तिक (संपादित जीवन वृत्त) पृष्ठ 540 मूल्य 400
14. डॉ. रणजीत : व्यक्तित्व और कवित्व (डॉ. कला मुंजे का शोध प्रबन्ध) पृष्ठ 176, मूल्य 200 रुपये

ये पुस्तकें तीस प्रतिशत कटौती के साथ मँगवाई जा सकती हैं।

संपर्क : 09019303518

राष्ट्रीय किसान समन्वय समिति का नीति वक्तव्य

देश की कृषि संस्कृति को बचाने के लिए कदम :

1. विश्व व्यापार संगठन का कृषि समझौता भारत की खेती किसानी के लिए घातक सिद्ध हुआ है, इसलिए इस कृषि समझौते के डब्ल्यूटीओ की व्यवस्था से तुरंत बाहर किया जाय। वस्तुत: पूरी डब्ल्यूटीओ की व्यवस्था ही जनविरोधी है, हम इसे पूरी तरह नकारते हैं।
2. कॉरपोरेट समर्थक एजेंसियों जैसे विश्व बैंक, अंतर-राष्ट्रीय मुद्रा कोष, वि व व्यापार संघटन, एशियाई विकास बैंक, डीएफआईडी या कॉरपोरेटों की तरह साम्राज्यवादी एजेंसियों को हमारी कृषि नीति में, प्राथमिकता, आवंटन, सामग्री और क्रियान्वयन तय करने में शामिल होने की बिल्कुल अनुमति नहीं होनी चाहिए।
3. भूमि अधिग्रहण की व्यवस्था आम लोगों के जमीन की मिल्कियत के संप्रभु अधिकार का हनन करती है, भूमि की मिल्कियत समुदाय की है, अत: सरकार को इसका हस्तांतरण करने का अधिकार नहीं है। इसलिए हम भूमि अधिग्रहण के लिये बने कानून और उनके संशोधन के लिये आ रहे अध्यादेशों को नकारते हैं।
4. जल, जंगल, जमीन, खनिज और जैव विविधता को बाज़ार के दायरे से बाहर निकाला जाय। इन पर समुदाय की नैसर्गिक मिल्कियत है, समुदाय की सहमति के बिना इनका आदान प्रदान नहीं किया जा सकता।
5. कृषि उपज के न्यूनतम समर्थन मूल्य के निर्धारण की वर्तमान प्रक्रिया को हम पूर्णता: अवैज्ञानिक और कृषि विरोधी मानते हैं। इस के स्थानपर नई, वैज्ञानिक, पारदर्शी एवं कृषक हितैषी मूल्य निर्धारण व्यवस्था को लागू की जाय।
6. भारत कृषि प्रधान देश है, भारत की कृषि संस्कृति को बचाये रखा जाना चाहिए। राष्ट्र के विकास की धुरी खेती-किसानी और उस पर आधारित लघु और कुटीर उद्योग होनी चाहिए। कॉरपोरेटी औद्योगीकरण, इंडस्ट्रियल कॉरीडोर, सेज, स्मार्ट सिटी की अवधारणा को हम अस्वीकार करते हैं।
7. कृषि आधारित कुटीर एवं लघु उद्योग को संरक्षित किया जाय। कृषि के साथ-साथ जीरो तकनीक तथा लघु पूंजी में चलने वाले हथकरघा, कुटीर एवं लघु उद्योग ग्रामीण रोजगार का मुख्य आधार रहे हैं, इन्हें पुनजीर्वित करने के लिए सरकार इन्हें आरक्षित सूची में डाले। इन उद्योगों के तकनीकी उन्नयन हेतु नयी साकार इन्हें प्रविधि एवं पूंजी उपलब्ध कराये। कृषि उत्पादकों के लिये उत्पादन, प्रसंस्करण व विपणन की आवष्यकताओं हेतु कॉपरेटिव एवं प्रोड्यूसर कम्पनी का गठन सरल एवं स्वायत्ततापूर्ण बनाने के लिए सरकार नया कानून बनाये।
8. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा आपूर्ति किये जा रहे बीज, खाद, कीटनाशी की कीमतें अनियंत्रित होने के कारण कृषि की लागत लगातार बढ़ रही है और किसान कर्जे में डूब रहा है। कृषि की लागत में हो अनापशनाप इजाफ़े को रोकने के लिए कम्पनियों के इन उत्पादों की कीमतें नियंत्रित की जाँय।
9. सरकार देश में प्राकृतिक खेती को बढ़ावा दे, प्राकृतिक खेती के विकास के लिये बजट में प्रावधान करे और खेती के विनाश के लिए जिम्मेदार जीएम बीजों के प्रयोग को तुरंत प्रतिबंधित किया जाय। जीएम खाद्य पदार्थ स्वास्थ्य के लिए घातक हैं, इनके आयात पर प्रतिबंध लगाया जाय।
10. खेती के लिए दिये जाने वाले कर्ज को ब्याजमुक्त किया जाय और कृषि में चक्रवृद्धि ब्याज को अपराध घोषित किया जाय।
11. प्राकृतिक आपदा की स्थिति में किसान को पूरी क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए। उसके लिए स्थाई योजना बनाई जाय।

(पीएनएन)

"भारत का इतिहास, भूगोल और संस्कृति ऐसी है कि राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता परस्पर विरोधी शक्तियाँ बन गयी है। साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता को कमजोर कर रही है। कमजोर राष्ट्रीयता के कारण साम्प्रदायिकता तेजी से फैल रही है।"

– किशन पटनायक

शिक्षा अधिकार अभियान

सब के लिए शिक्षा के वृहत उद्देश्य को हासिल करने के लिए 'अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच' का गठन हुआ है। इस बात की पूरी संभावना है कि 15-18 दिसंबर 2015 को नैरोबी, केन्या में होने वाली विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यु.टी. ओ./WTO) की दसवीं मंत्री-स्तरीय बैठक में भारत सरकार उच्च शिक्षा को WTO के मातहत वैश्विक बाजार के 'सुपुर्द' कर देगी। ज्ञातव्य हो कि भारत सरकार ने सन् 2005 में ही इस संबंध में WTO के पटल पर उच्च शिक्षा का 'प्रस्ताव' रख दिया है जो इस 'सुपुर्दगी' का पहला चरण है। जैसे ही उच्च शिक्षा के 'सुपुर्दगी' की यह प्रक्रिया पूरी हो जाएगी वैसे ही WTO-GATS ('जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड इन सर्विसेज' यानी सेवा क्षेत्र में व्यापार के लिए आम समझौता) के तहत लागू होने वाले व्यापार के नियम हमेशा के लिए भारत की उच्च शिक्षा को अपने शिकंजे में कस लेंगे। यह जानना भी जरूरी है कि भारत (या WTO के किसी सदस्य देश) के पास यह विकल्प है कि वह शिक्षा समेत किसी भी सेवा क्षेत्र को चाहे तो WTO के सुपुर्द करने से मना कर सकता है। लेकिन अगर सरकार ने ऐसा नहीं किया और शिक्षा को WTO के हवाले कर दिया तो उस दशा में इसे वापस लेना लगभग नामुमकिन हो जाएगा। इसका सीधा मतलब है कि भारत के पास अभी भी यह विकल्प है कि वह शिक्षा को WTO के दायरे से बाहर रखे लेकिन यह तभी संभव है जब नैरोबी बैठक से पहले उच्च शिक्षा क्षेत्र में WTO को दिए 'प्रस्ताव' को सरकार वापस ले लेती है।

समाजवादी जनपरिषद ने अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच के तहत पिछले तीन महीनो में WTO–GATS शर्तो का भारत की उच्च-शिक्षा व्यवस्था पर प्रभाव विषय पर कई कार्यक्रम आयोजित किये।

विश्व व्यापार संगठन के सेवा क्षेत्र के व्यापार संबंधी आम समझौते का भारत की उच्च शिक्षा पर क्या असर होगा इस विषय पर विचार करने के लिए महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ छात्र कल्याण संकाय व अ.भा.शि.अ.मं. के संयुक्त तत्वाधान में 28 जुलाई को विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया । राष्ट्रीय महत्व के विषय पर आयोजित इस गोष्ठी में भाग लेने के लिए अ.भा.शि.अ.मं. के सचिव मंडल के सदस्य डॉ विकास गुप्ता, डॉ एन सचिन (अंग्रेजी विभाग, दि. वि.वि.) तथा इलाहाबाद से आजादी बचाओ आन्दोलन के श्री मनोज त्यागी ने शिरकत की ।

मनोज त्यागी जी ने GATT का देश की अर्थ-व्यवस्था व कृषि व्यवस्था पर असर से चर्चा की शुरुआत की , एवं GATS का शिक्षा क्षेत्र में तदनुरूप असर होगा, यह कहा। दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग के प्रवक्ता, डाक्टर विकास गुप्ता ने अपने सार- गर्भित भाषण में साम्राज्यवादी शक्तियों के भारत की शिक्षा-व्यवस्था में दखल, व अपने लाभ के लिए, शिक्षा को 'सेवा' क्षेत्र में घोषित करने के षड्यंत्र पर प्रकाश डाला। डाक्टर सचिन ने वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के अभिजात व जातिवादी चरित्र की चर्चा की, व यह रेखांकित किया कि सत्ताधारी वर्ग को GATS की शर्तें मानने में कोई असुविधा नहीं हैं, क्योंकि उनके बच्चे पढ़ने से वंचित नहीं होंगे, और वो जैसे आज निजी क्षेत्र के कॉलेज व विश्वविद्यालय चला कर मुनाफा कमा रहे हैं, विदेशी विश्व विद्यालयों के साथ गठ-बंधन बनाके, और कमाते रहेंगे। समाजवादी जनपरिषद के संगठन सचिव श्री अफलातून ने कहा कि किसी भी देश की शिक्षा-व्यवस्था उसके बृहत्तर व्यवस्था के अंतर्गत, उसकी अधीन होती हैं। उसका वर्ग चरित्र व अन्य सामाजिक सरोकार बृहत्तर व्यवस्था से संचालित होते हैं, और बिना सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था के आमूल-चूल परिवर्तन के, GATS का प्रभाव नकारात्मक ही हो सकता। समाजवादी जनपरिषद के जिला अध्यक्ष, नजीर अहमद, जिला महामंत्री डाक्टर नीता चौबे , संतोष कुमार व सैय्यद मकसूद अली के साथ ही कार्यक्रम में पूर्वी उत्तर प्रदेश के शिक्षक, छात्र, शिक्षक संगठन तथा छात्र युवा संगठनों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया ।

अगस्त क्रांति दिवस, 9 अगस्त 1942 में महात्मा गांधी ने 'करो या मरो ! अंगेजो भारत छोडो !' का नारा दिया था। उस दिन की स्मृति में संत रविदास गेट , लंका पर समाजवादी

जनपरिषद व अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच के सदस्यों ने दिन भर का धरना दिया। धरना के दौरान चली गोष्ठी में वक्ताओं ने कहा कि आजादी की लड़ाई भूल कर, आज हमारे रहनुमाओं ने विदेशी कम्पनियों के लिए व्यापार के द्वार तो खोल ही दिए हैं , अब शिक्षा व स्वास्थ्य को भी सेवा क्षेत्र में ला कर, देश की जनता की मूलभूत आवश्यकताओं को भी गिरवी रखना चाहते हैं। सामाजवादी जनपरिषद के वरिष्ठ नेता श्री चंचल मुखर्जी ने कहा कि प्राथमिक शिक्षा के मौलिक अधिकार को सरकार गरीबों से दूर रख रही हैं, तो उच्च शिक्षा की क्या आशा रखी जाये। अफलातून ने ध्यान दिलाया कि 9 अगस्त वो दिन भी हैं, जब दूसरे विश्व युद्ध में अमरीका ने जापान के नागासाकी शहर पर प्रयोग के रूप में हाइड्रोजन बम गिराया था। युद्ध विराम के लिए तो हिरोशिमा पर गिराया गया 6 अगस्त का बम ही काफी था। आज भी साम्रज्यवादी ताकतें सब को विश्व-स्तरीय शिक्षा का लुभावना नारा दे कर, महँगी व दोयम दर्जे की शिक्षा थोपना चाहती हैं। गांधियन इंस्टिट्यूट ऑफ स्टडीज की डाक्टर मुनीजा रफीक खान व समाजवादी जनपरिषद के संतोष कुमार ने कहा की शिक्षा सामाजिक रिश्तों व व्यवहार की भी शिक्षा दे, ताकि एक जाति-विहीन समता आधारित समाज स्थापित हो सके, जिससे कि धर्म के नाम पर भावनाएं भड़का कर गरीबों को आपस में बांटने का खेल भी खत्म हो । गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए प्रो. महेश विक्रम ने कहा कि ऐसी विदेशी शिक्षा मैकॉले के सोच के तर्ज पर क्लर्क और इलेक्ट्रोनिक कर्मियों की सेना तैयार करेगी, भारत के लिए दार्शनिक, वैज्ञानिक या शिक्षाविद नहीं।

धरना-स्थल पर मऊ से आये विद्यार्थी युवजन सभा के शैलेश कुमार, रवीश कुमार, साहिल ने WTO - GATS के खिलाफ हस्ताक्षर अभियान चलाया और डॉ. नीता चौबे व सोनी कपूर ने पोस्टर प्रदर्शनी लगायी।

कार्यक्रमों की इसी कड़ी में सभी वामपंथी संगठन , और भाकपा, माकपा और भाकपा -माले के सदस्यों के साथ बैठकों के दौर से एक साझा कार्यक्रम अ.भा. शि. अ. मं. की ओर से तय हुआ । संपूर्ण संस्कृत विश्व-विद्यालय के द्वार पर 3 अक्टूबर को जन-संपर्क का कार्यक्रम व पोस्टर प्रदर्शनी लगाई गयी तथा लहुराबीर स्थित चंद्रशेखर आजाद पार्क में जनसभा, पोस्टर प्रदर्शनी व हस्ताक्षर अभियान किया गया। सभा में वक्ताओं ने कहा कि अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच करीब 50 संगठनों द्वारा 2009 में स्थापित किया एक मंच हैं , जो शिक्षा के अधिकार और समान शिक्षा प्रणाली व पड़ोसी स्कूलों के लिए आंदोलन कर रहा हैं, ताकि एक मोहल्ले के सारे बच्चे, बिना वर्ण और वर्ग-भेद के साथ पढ़ सकें और भारत के प्रत्येक बच्चे को शिक्षा का मौलिक अधिकार मिले। वो KG से PG तक मुफ्त शिक्षा का हकदार हो। यह कोई नयी बात नहीं, ब्राजील, ग्रीस और अर्जेंटीना में तो मिलती हैं, और इन में से कोई अमीर मुल्क नहीं हैं।उन देशों में सिर्फ शासक वर्ग की सोच देश में शिक्षितों की संख्या बढ़ाने की हैं, घटाने की नहीं। 2005 में भारत की तत्कालीन सरकार ने WTO - GATS समझौते के लिए प्रस्ताव दिया था, और अब दिसंबर 2015 में वर्तमान सरकार उस समझौते पर हस्ताक्षर करने जा रही हैं, जिसके तहत हमारे देश में उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में, विदेशी विश्व-विद्यालयों को वो सभी सुविधा मिलेगी जो सरकारी विश्वविद्यालयों को मिलती हैं। सेज (SEZ) या विशेष आर्थिक क्षेत्र की तरह से विशेष शिक्षा क्षेत्र बनाएं जायेंगे, जिस के लिए किसानों से जमीनें ली जाएंगी, जिस तरह आज कल महामार्गो के लिए औन-पौन दाम पर जमीन खरीदी जा रही हैं।

जब कुकुरमुत्तों की तरह से यह विदेशी विश्व-विद्यालय फैल जायेंगे तो पढ़ने का शुल्क भी बढ़ेगा, और होड़ में देशी विश्वविद्यालय भी फीस बढ़ा देंगे। साधारण और किसान घर के लड़के-लड़कियाँ तब उच्च -शिक्षा से मरहूम हो जायेंगे। इस करार पर सरकार की मुहर लगने से रोकने के लिए जन-जागरण के लिए सभा में सामाजिक कार्यकर्ता तीस्ता सीतलवाड के अलावा मुख्य रूप से प्रो महेश विक्रम सिंह, डॉ रमन पंत, कामरेड निजामुद्दीन, पारमिता, चंचल मुखर्जी, लोलार्क द्विवेदी, नजीर अहमद, अनवर खान, कामरेड देबाशीष भट्टाचार्य, संतोष कुमार व ऐपवा की कुसुम वर्मा व अ. भा. शि. अ. मं. के उत्तर प्रदेश के प्रभारी अफलातून थे। सभा का संचालन डॉ नीता चौबे ने किया व धन्यवाद ज्ञापन सैय्यद मकसूद अली ने किया।

-डॉ. स्वाति

पश्चिम बंग

पश्चिम बंग में शिक्षा अधिकार मंच व समाजवादी जनपरिषद के बैनर के तहत समान शिक्षा व पडोसी स्कूल के मुद्दे पर पिछले कुछ समय से कार्यक्रम लिए जा रहे थे। उच्च शिक्षा को विश्व व्यापार संगठन के सेवा के व्यापार संबंधी समझौते में शामिल किए जाने के आसन्न प्रस्ताव के फलस्वरूप साधारण किसान व गरीब के लिए उच्च शिक्षा हासिल करना संभव नहीं रह जायेगा। इस मुद्दे को केन्द्र में

रखते हुए सजप ने राज्य में सिलसिलेवार कार्यक्रम लिए। जलपाईगुडी जिले के शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों तथा अलीपुरद्वार जिले के देहाती अंचल में 9 अगस्त से 16 अक्टूबर के बीच जलपाइगुडी शहर, जटेश्वर बाजार, धूपगुड़ी ब्लॉक मुख्यालय पर जन सभायें तथा 'विश्व व्यापार संगठन के सेवा के व्यापार संबंधी समझौते का विरोध क्यों? WTO –GATS भगाओ, शिक्षा बचाओ' शीर्षक के परचे वितरित कर, और जन-सभायें कर जन जागरण किया गया।

15 अगस्त को जलपाइगुड़ी शहर में हो रही सभा के दौरान समाजवादी जनपरिषद के वरिष्ठ नेता व राज्य इकाई के पूर्व महामंत्री, व राष्ट्रीय कार्यकारिणी के पूर्व सदस्य साथी फेबियानुस तिर्की जी की असमय मृत्यु की खबर पाकर सभा स्थगित कर दी गई। दिनांक 16 अगस्त को ब्लॉक, जिला, राज्य व राष्ट्रीय स्तर के जिम्मेदार, सक्रिय साथियों ने मौन जुलूस के रूप में उनकी अन्तिम यात्रा में शिरकत की। जटेश्वर बाजार स्थित पार्टी कार्यालय पर शोक सभा हुई जिसमें समाजवादी जनपरिषद, उत्तर बंग तपशिली जाति ओ आदिवासी संगठन (उतजाआस), पश्चिम बंग चाय बागान श्रमिक यूनियन, विद्यार्थी युवजन सभा व समता केन्द्र के साथी उपस्थित थे।

6 सितंबर को धूपगुड़ी ब्लॉक का प्रशिक्षण शिबिर मालीर हाट, दीवानचन्द्र हाई स्कूल में संपन्न हुआ। सजप के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष साथी कमल बनर्जी व राज्य महामन्त्री बिल्कन बाडा ने राजनैतिक प्रशिक्षण दिया। 13 सितंबर के दिन जलपाइगुडी जिला के मालबाजार महकमा के नेपुचापुर चायबागान के स्कूल में, पश्चिम बंग चा श्रमिक युनियन और स.ज.प. का संयुक्त सम्मेलन हुआ। 100 से अधिक कार्यकर्तओं के इस सम्मेलन का उद्घाटन, वरिष्ठ मजदूर नेता श्री चित्त डे ने किया और मुख्य वक्तव्य राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री कमल बनर्जी व राष्ट्रीय सचिव रणजीत राय ने दिया । राज्य महामन्त्री बिल्कन बाडा, राज्य अध्यक्ष श्री अखिल बन्धु सरकार, स्थानीय मजदूर नेता श्री दीनेश महाली व श्री दीनबन्धु कर्मकार प्रमुख वक्ता थे।सम्मेलन का समापन चाय बागान से लगे बाजार मे जुलूस निकाल कर किया गया ।

21 सितम्बर को अलीपुरदुआर और जलपाइगुडी जिलों की संयुक्त बैठक मे 6-8 नवम्बर 2015 को एक राज्य स्तरीय शिविर अयोजित करने का फैसला लिया गया। 6 नवम्बर को सजप दिवंगत नेता साथी जुगल किशोर रायवीर की पुण्य तिथि है और स.ज.प. और समता केन्द्र द्वारा हर साल कार्यक्रम आयोजन किया जाता है । इस शिविर का उद्घाटन प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक श्री सच्चिदानन्द सिन्हा करेंगे , और प्रमुख वक्तव्य राष्ट्रीय कार्यकारिणी की सदस्य डॉ. स्वाति, वरिष्ठ नेता चित्त डे व साथी कमल बनर्जी के होंगे ।

प्रत्येक कार्यक्रम में पार्टी के अलावा विद्यार्थी युवजन सभा, उ.त.जा.आ.स., समता केन्द्र के सक्रिय सदस्य सर्वश्री अशोक रायबीर, सत्येन्द्र राय, अरुण कान्ति रायसिंह, ललिता एक्का, करुणा के. राय, अनिमेष राय, बल्बन टोप्पो, ज्योत्स्ना बाडा, अनिमा राय, दीन्बन्धु राय, रवीन्द्रनाथ राय, पवन सिंह, कालीपद राय, कार्तिक चन्द्र राय व श्यामल रायबीर मौजूद रहे।

– रणजीत राय

मध्य प्रदेश

मध्य प्रदेश का राज्य सम्मेलन 10 अक्टूबर , 2015 को केसला स्थित राजनारायण स्मृति भवन में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में रीवां, बेतुल, हरदा, खन्ड्वा एवम होशनगाबाद जिलों के सदस्य मौजूद थे।

सम्मेलन का उद्घाटन समाजवादी जनपरिषद की राष्ट्रीय उपाध्यक्ष व म.प्र. प्रभारी, एड. निशा शिऊरकर ने किया और राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य श्री चंचल मुखर्जी फागराम मुख्य अतिथि थे । शुरुआत में. निवर्तमान राज्य महामन्त्री ने दो साल की रपट पेश की। देश व प्रदेश के हालात पर विस्तृत चर्चा की गयी और सभी साथियों ने चर्चा में भाग लिया।श्री चंचल मुखर्जी ने कहा कि कार्यकर्ता बीज जैसे हैं, उन्हें अनावृष्टि के दौर में भी संभाल कर, बचा कर रखना चाहिये , ताकि भविष्य में आन्दोलन, रचना व क्रान्ति के काम आ सके । यह किसानों व जनता की एकता की ताकत है, जिस ने सरकार को भूमि अधिग्रहण अध्यादेश को वापस लेने पर मजबूर किया। राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य वरिष्ठ् साथी अजय खरे ने कहा की व्यापम घोटाले से जुडे अनगिनत लोग मारे गये और म.प्र. का मुख्य मंत्री कोई ठोस कार्रवाई के बजाय कोरिया और जापान में 'रोड शो' कर रहे हैं।

निशा शिऊरकर ने कहा कि म.प्र. व महाराष्ट्र दोनों में भा.ज.पा. की सरकार है। सैकड़ों किसान आत्महत्या कर चुके है। उनकी समस्याओं पर ध्यान देने की जगह भाजपा सम्प्रदायों के बीच नफरत फैलाने का काम कर रही है। ऐसे में स.ज.प. के कार्यकर्ताओं को एकता बनाकर, संगठित हो कर काम करना चाहिये।

युवा साथी राजीव बामने द्वारा शिक्षा पर व श्रीमती बिस्तोरी द्वारा कार्यक्रम पर पर्चा पेश किया गया।

सम्मेलन में राज्य के पदाधिकारी के रूप में श्रीमती उषा सोनी अध्यक्ष, राजेन्द्र गढ़वाल व स्मिता उपाध्यक्ष एवम फागराम महामन्त्री चुने गये। सम्मेलन का समापन क्रान्ति गीत 'लडत जा रे से हुआ'।

-फागराम

वेदांता के खिलाफ आदिवासियों का प्रदर्शन

रायगढ़ा। ओडिशा के रायगढ़ा और कालाहांडी जिलों में फैले नियमगिरि पहाड़ को वेदांता को बेचे जाने की आशंका के बीच वहां बसे आदिम जनजाति डोंगरिया और कुटिया कुंड समुदाय के लोगों ने नियमगिरि सुरक्षा समिति के बैनर तले 19 सितंबर को प्रदर्शन मार्च किया।

बड़ी संख्या में आदिवासी स्त्री-पुरुषों ने कयाकुंडु ग्राम पंचायत से लेकर वहां के ब्लॉक कार्यालय विसमकटक तक रैली निकाली। इस दौरान वेदांता कंपनी, ओडिशा सरकार और केंद्र की नीतियों के खिलाफ नारे लगाए जाते रहे। जुलूस विसमकटक के पुलिस थाने, तहसील मुख्यालय से होते हुए ब्लॉक कार्यालय तक गया और वहां से लौटकर तहसील मुख्यालय पर सभा में तब्दील हो गया। वहां अनेक वक्ताओं ने सरकारी और कंपनी की नीतियों के खिलाफ रोष प्रकट किया और वेदांता कंपनी को तत्काल वहां से हटाने की मांग की। अभी हाल में वेदांता को सरकार ने कई सुविधाएं दी हैं और लांजीगढ़ में उसका विशाल संयंत्र लगा है। लोगों को आशंका है कि कंपनी स्थानीय कुछ गुंडों और अपने दलालों के माध्यम से आंदोलन में फूट पैदा करना चाहती है और पैसों का लालच देकर गरीब लोगों को तोड़ रही है। उनकी आशंका तब और सच होती जा रही है जब हाल में ही ओडिशा सरकार ने नियमगिरि इलाके के उन 12 आदिवासी पंचायतों में फिर से जनमत संग्रह कराने का विचार रखा है, जहां दो साल पहले सुप्रीम कोर्ट के निर्देश पर हुए जनमत संग्रह में नियमगिरि को वेदांता कंपनी को सौंपने के खिलाफ सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित हुए थे। सरकार का कहना है कि अब वहां बॉक्साइट का खनन केवल ओडिशा सरकार कराएगी इसलिए फिर से मत संग्रह करना जरूरी है। आंदोलन के नेता लिंगराज आजाद ने कहा कि कंपनी येन केन प्रकारेण पहाड़ को हथियाना चाहती है इसलिए प्रतिरोध को बरकरार रखने की जरूरत है। सभा में लिंगराज आजाद, सुरेश संग्राम, दिल्ली राज्य अध्यक्ष, समेत अनेक वक्ताओं ने विचार रखे। **-अतुल कुमार**

किशन पटनायक पुण्यतिथि : भवानीपटना

किशन पटनायक के जन्म स्थान कलाहांडी के मुख्यालय भवानीपटना में समाजवादी जनपरिषद द्वारा उनकी पुण्यतिथि के मौके पर एक सफल संगोष्ठी का आयोजन हुआ। किशन पटनायक के साथ इलाके में काम कर चुके लोगों के अलावा उनके दो भाई तथा उनके भांजे ने भी भाग लिया। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर विजय बहिदार ने कहा कि किशन पटनायक ने 1990 से मृत्यु पर्यन्त जगतीकरण की प्रक्रिया की कठोर समीक्षा की तथा वे इसके विकल्प की खोज में लगे रहे।उन्होंने कहा कि ओडीशा सस्ते श्रम का मुख्य स्रोत बन गया है। शासक दल की नीतियों के चलते खेती, किसानी व गांव के बचे रहने की उम्मीद नहीं दिखती है। मुख्य वक्ता सजप के संगठन मंत्री अफलातून ने कहा कि भूख से हुई मौतों की सच्चाई को लोक सभा में सरकार से कबुलवाने में किशन पटनायक ने जिस दरजे की मेधा का प्रयोग किया था आज किसानों की आत्महत्याओं से प्रकट खेती-किसानी के संकट को समझने के लिए उसी दरजे की मेधा की आवश्यकता है। विश्व व्यापार संगठन की नीतियों के कारण खाद्य-स्वावलंबन का लक्ष्य हासिल कर चुका हमारा देश खाद्य-तेल का सबसे बड़ा आयातक बन गया है। सत्ता प्रतिष्ठान के नजदीकी पूंजीपति गौतम अडाणी के समूह पर 55,36,494 करोड़ रुपए दीर्घ कालीन ऋण है। इन भारतीय उद्योगपतियों की परियोजनायें जिन देशों में चलने वाली हैं उन देशों को प्रधान मंत्री भारत के खजाने से अरबों डॉलर का कर्ज दे रहे हैं। इस अवसर पर सजप के राष्ट्रीय महामंत्री लिंगराज आजाद ने कहा कि कृषि-संकट व्यवस्था परिवर्तन से ही दूर होगा। संगोष्ठी की अध्यक्षता भारत ठाकुर ने की। संगोष्ठी में निरंजन विद्रोही, राजेन्द्र भारती, भक्त चरण, राजकिशोर व सत्य महार की भागीदारी उल्लेखनीय थी।

सजप महासचिव लिंगराज आजाद ने खबर दी है कि इस वर्ष पश्चिम ओडीशा में किसान की आत्महत्याओं की बढ़ गयी घटनाओं के प्रतिवाद में पश्चिम ओडीशा कृषक समन्वय समिति द्वारा आगामी 9 नवंबर को हर जिला मुख्यालय पर जबरदस्त कार्यक्रम की तैयारी चल रही है।

दिल्ली में किशन पटनायक स्मृति व्याख्यान, राज्य सम्मेलन, धरना

समाजवादी जन परिषद, दिल्ली ने 26 सितंबर को गांधी शांति प्रतिष्ठान में किशन पटनायक स्मृति व्याख्यान का आयोजन किया। इसमें ''जनांदोलन और पूंजीवाद से सतत सवाल'' विषय पर नृतत्वशास्त्री और ओडिशा में करीब 32 वर्षों से आदिवासियों के बीच आंदोलन में सहयोग कर रहे

फेलिक्स पेडल ने व्याख्यान दिया। कार्यक्रम की अध्यक्षता पार्टी के वरिष्ठ साथी मदन लाल हिन्द ने की।

इससे पहले 13 अगस्त को सजप की राज्य इकाई का सम्मेलन गांधी शांति प्रतिष्ठान में हुआ। इसमें राजनीतिक, सामाजिक, शिक्षा संबधी और कार्यक्रम संबधी प्रस्ताव विचार विमर्श के बाद पारित किए गए। सम्मेलन में राज्य इकाई का अध्यक्ष अगले छह माह के लिए अतुल कुमार को और महासचिव प्योली स्वातिजा को चुना गया। अगले छह माह में नए अध्यक्ष और महासचिव के बारे में चर्चा कर पद सौंप दिया जाएगा। सम्मेलन का उद्‌घाटन वरिष्ठ साथी प्रो. महेश विक्रम ने किया। सम्मेलन में मुख्य अतिथि पार्टी के संगठन सचिव अफलातून थे।

11 अगस्त को अगस्त क्रांति सप्ताह के तहत सजप की दिल्ली इकाई ने डब्ल्यूटीओ भगाओ, शिक्षा बचाओं के नारे के साथ देश की उच्च शिक्षा को डब्ल्यूटीओ-गैट शर्तो के अनुकूल बनाने की भारत सरकार की नीति के खिलाफ जंतर मंतर पर एक दिन का धरना दिया। इसमें वक्ताओं ने शिक्षा के बाजारीकरण और व्यावसायिकरण के खिलाफ विचार व्यक्त किए और वर्तमान नीतियों को आत्मघाती कदम बताया। सरकार से तुरंत इस तरह की नीति बदलने की मांग की गई। जंतर मंतर पर हुई सभा को अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच की सदस्य मधु प्रसाद, वरिष्ठ समाजवादी प्रो. राजकुमार जैन, श्यामरुद्र पाठक, कामरेड द्विजेन्द्र,सजप के साथी मदन लाल हिन्द, राजकिशोर, अरविंद मोहन,अरुण कुमार त्रिपाठी, हरिमोहन मिश्रा,अतुल कुमार आदि ने संबोधित किया।संचालन प्योली स्वातिजा ने किया। झमाझम बारिश में भी साथियों ने पूरे उत्साह के साथ धरने में हिस्सा लिया।

-अतुल कुमार

मत-विमत

मैं समाजवादी जन परिषद के बारे में जानता ही बहुत कम हूं। कभी वैसी जरूरत भी नहीं लगी। लेकिन अब देखने-समझने की कोशिश करूंगा।

वार्ता के जितने अंक तुमने (अफलातून ने) दिए, वे सब पढ़ गया। वार्ता मुझे हमेशा ही अच्छी लगती रही है। विषयों की विविधता में भी और विचारों की उन्मुक्तता में भी कमी होती है जो मुझे खलती है। लेकिन किसी विचारधारा से बंधने और उसे ही संगठन का आधार बनाने से ऐसी दिक्कतें आती ही हैं। तुम सब उससे पार निकलने की कोशिश करो।

सुनीलजी और अशोकजी वाले दोनों अंक बहुत बढ़िया बने हैं। यह महिमामंडन नहीं है बल्कि अपने बीच से ही उठे व खिले साथी की विशेषताओं को पहचानना है। आखिर मनुष्य में विकास की पहचान हम करेंगे कि नहीं ? सुनीलजी और अशोकजी अपने आप में ही एक प्रतिमान बन गये जिनसे हम सब बहुत कुछ सीख सकते हैं। कोलकाता में भारतीय भाषा परिषद के निमंत्रण पर दो साल पहले में व्याख्यान के लिए गया था तब सोच रखा था कि अशोकजी से मिलना है। व्याख्यान पूरा कर बाहर निकल रहा था तब एकदम पिछली कतार में वे मिले। तबीयत काफी कमजोर थी। मैंने गले लगाया और कहा कि यहां तक आने की जरूरत नहीं थी। मैं तो खुद ही आपको देखने आने वाला था ! बोले 'आप तो आ ही जाते लेकिन मैं सुन तो नहीं पाता !... कितनी तृप्ति होती है आपको सुन कर'। बाद में आयोजकों ने बताया कि तबीयत काफी कमजोर होती जा रही है ।

इन दोनों अंकों के लिए मेरी बधाई !

-**कुमार प्रशान्त,** गांधी शांति प्रतिष्ठान , नई दिल्ली

वसुधैव कुटुम्बकम और हिंदूत्व में विरोधाभास

अन्ना के आंदोलन के दौरान मैंने रांची में उसके बडे स्वरूप की आस लिये कई राजनीतिक, सांस्तिक व आध्यात्मिक संगठनों के चक्कर लगाए। हालाकि निराशा ही हाथ लगी । पहली बार करीब से जाना कि देश व संस्कृति के नाम पर लगने वाले नारों के बीच आपस में ही इतना विद्वेष है कि संगठित प्रयास होना बहुत मूश्किल है। इसी बीच विद्यार्थी परिषद से जुडा। परिषद से जुडने से पहले विवेकानंद का वेदांत पढा था। जितना भी पढा, उसी कसौटी पर वहां होने वाली बहस को परखने की कोशिश की। वहां वसुधैव कुटुम्बकम के नारे लगते थे। गीता पर चर्चा होती थी। योग की बातें होती थी। मुझे भी अपनी संस्कृति पर गर्व होता था। पर ये गर्व कब अहंकार में बदला, पता नहीं चला। कब दूसरे धर्मो के दर्शन अपने धर्म के दर्शन से कमतर लगने लगे, पता नही चला।मन में अनादर उठ रहा था ठीक यहीं से वेदांत भी अनजाने ही छूटने लगा था। अजीब हालत थी। नारा तो मैं वसुधैव कुटुम्बकम का लगा रहा था पर मन में संपूर्ण वसुधा के निवासियों की खासियतों - कमियों को स्वीकार करने की जो क्षमता थी, वही समाप्त होती जा रही थी। बैठकों में

पाकिस्तान के खिलाफ बातें होती थीं। अखंड भारत से परिचित कराया गया कि पूरे ईरान से लेकर इंडोनेशिया तक अखंड भारत था। फिर अखंड भारत के सपने में मन खोने लगा। पर कैसे? बैठक में जवाब मिला --साम, दाम, दंड, भेद से! इसका मतलब क्या था और क्या है? ये हम सभी जानते हैं। मैंने एक ऐसी ही चर्चा में इस साम दाम (?) दंड (किस प्रकार का?) भेद पर सवाल उठाया। पर कोई साफ जवाब नहीं मिला। इसके बाद धीरे धीरे मुझे एहसास हुआ कि गीता, राम, कृष्ण का प्रयोग पूरी वसुधा के लोगों के प्रति, उनकी सोच, रहन सहन, धर्म -दर्शन के प्रति प्रेम या आदर जगाने के लिए नहीं, बल्कि एक तरह का घृणाभाव जगाने के लिए किया जाता है। वसुधैव कुटुम्बकम का मतलब है पूरी वसुधा यानी पृथ्वी अपना परिवार है। अब ये व्यक्ति -व्यक्ति पर निर्भर है कि वह परिवार का क्या अर्थ लगाता है? परिवार के सदस्यों को कितनी स्वतंत्रता देना चाहता है? परिवार की किन जरूरतों को आगे रखता है? परिवार के किसी सदस्य को गलती करने पर किस तरह का व्यवहार दिया जाता है? वेदांत पढने के बाद मुझे लगा कि लोकतंत्र एक आध्यात्मिक मूल्य है। हर व्यक्ति की जीवन को देखने की दृष्टि व उसके प्रयोग के लिए खुद को बर्बाद तक कर लेने तक की स्वतंत्रता होनी चाहिए। क्या कभी भी कोई भी नया काम बिना 'रिस्क' के हुआ है? अगर बुद्ध खतरा ना लेते जंगल में भटकने का तो संसार को एक वैज्ञानिक सोच का एक महान खोजी कैसे मिलता? गलती करने देने की स्वतंत्रता की छूट तो होनी ही चाहिए। सृजन ऐसी ही सैकडों गलतियों में से एक के द्वारा होता है। बेशक एक सृजन के लिए सैकडो का व्यर्थ जाना संभव है। पर असफलता के आधार पर ही व्यर्थ का तमगा भी नहीं लगाना सही नहीं होगा। कोशिशों का भी आदर होना चाहिए। इसलिए पूरे विश्व के लोगों को पूरा हक है कि वे किस दर्शन में रूचि रखें। बस ये रूचि दूसरों का अतिक्रमण ना करे। इसी आधार पर हम कहते हैं कि तालिबान गलत है। क्योकि 16 इस्लामिक दर्शनों में से किसी एक या एक से अधिक दर्शन पर सोचना, रूचि रखना गलत नही है पर ऐसी रूचि द्वारा किसी भी अन्य दर्शन या विचार-वाद में रूचि रखने वाले व्यक्ति के जीने में दखल होने लगना गलत है। बिना हक के दखल का सीधा संबंध अहंकार से है अपने विचारों के प्रति अहंकार से। ये अहंकार गलत सही की पहचान में असमर्थ होता है। इसलिए अंधविश्वास से लडने वाले कभी कलबुर्गी, तो कभी दाभोलकर और कभी पानसरे की हत्या कर डालता है।ये अहंकार नही तो क्या है जो विज्ञान के विकास और सामाजिक चेतना के प्रसार को हत्या द्वारा रोकना चाहता है। रोकने का प्रयास गलत नहीं क्योकि हिंदुत्वादियों को पूरा हक है किसी विचार के प्रतिरोध का। पर जान लेने का हक? बेशक नही है। ना तालिबान को है ना हिंदूत्वादियों को· ये हत्याएं, ये घृणा, ये षड्यंत्र कह रहे हैं कि वसुधैव कुटुम्बकम का अर्थ ये नहीं जान पाये। परिवार के सदस्यों के अलग अलग विचारों का आदर करना नही सीख पाए, परिवार के सदस्य को किसी गलती पर हम जान से मार देते हैं क्या? और मारकर खुशियां मना लेते हैं क्या? जिसने वसुधैव कुटुम्बकम का अपने जीवन में समावेशन कर लिया वह तो वसुधा (पृथ्वी) के हर हिस्से में रहने वाले लोगो के विचारों को, अच्छाइयों को, कमियों को अच्छी तरह समझेगा। सावधान रहेगा, सावधान करेगा। उनके कपडे पहनने के तरीके,बोलचाल के तरीके, खानपान के तरीके, दर्शन का आदर करेगा। किसी तरीके के अलग होने पर से किसी को काटने के लिए या गोली से मार देने के लिए दौड नही पडेगा। पर हिंदुत्व किधर जा रहा है, ये देखा जा सकता है। हिंदू धर्म को ये हिंदुत्व का अभियान संकीर्ण करने पर अमादा दिख रहा है। भारत को उसकी बुलंदी पर पहुंचाने वाला यह हिन्दूत्व नहीं था। वो विनम्र, ग्राह्य व वैज्ञानिक दृष्टि से परिपूर्ण हिंदू संस्कृति थी। दोनो में फर्क है। हिंदूत्व राजनीति के बैसाखी पर सवार है पर हिंदू संस्कृति किसी राजनीति पर नही, नित नवीन खोज की जिज्ञासा पर सवार थी। इसलिए हिंदुत्व विद्वेषपूर्ण है पर हिंदू संस्कृति सौम्य· और इसीलिए उस हिंदू संस्कृति वाले वसुधैव कुटुम्बकम और हिंदुत्व में विरोधाभास है।

-शशिकांत शान्डिल्य, लातेहार, झारखंड

''विश्व बैंक और मुद्राकोष की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप जब राष्ट्र की आजादी खतरे में आ गई है और राष्ट्रीय एकता की जब सबसे अधिक जरूरत है, क्या भाजपा-आर.एस.एस. के लिए यही समय था सारे अल्पसंख्यकों के विश्वासों को विचलित कर देने का? छद्म राष्ट्रीयता का प्रचार करते-करते राष्ट्र के असली खतरे के बारे में भाजपा-आर.एस.एस. समूह संवेदनशून्य हो चुका है।''

-किशन पटनायक

समाजवादी जनपरिषद के वरिष्ठ, कर्मठ एवं वैचारिक नेता का निधन

15 अगस्त के दिन दोपहर 12 बजकर 40 मिनट पर समाजवादी जनपरिषद के चिन्तक नेता फाबियानुस तिरकी ने अपने जीवन की अन्तिम सांस ली। मृत्यु के समय उनकी उम्र 67 वर्ष की थी। उनका निधन अपने निवास स्थान धनीरामपुर 2 नं. अंचल के अन्तर्गत खोगेनहाट के चेंगमारी ताड़ी में हुआ। उनके पिता स्वर्गीय राम ज्वाकिम तिरकी थे। फाबियानुसजी डिमडिमा फातिमा उच्च माध्यमिक विद्यालय के एक वरिष्ठ एवं आदर्श शिक्षक थे। उनकी मृत्यु से उनके परिवार, इलाके, पूरे देश के उनके संगठनिक साथी और समाजवादी जनपरिषद के कार्यकर्ताओं में गहरा शोक व्याप्त है।

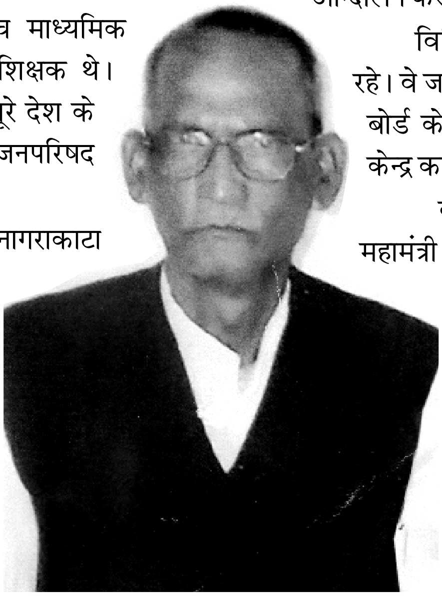

फाबियानुस तिरकी का जन्म नागराकाटा ब्लॉक के अन्तर्गत कुरथी चाय-बगान में 14 जून 1948 को हुआ था। प्राइमरी शिक्षा नागराकाटा मिशन स्कूल में एवं हाईस्कूल संत जोसेफ दमनपुर (अलिपुरदुवार) में हुई। उसके बाद राँची संतजेबियार कॉलेज से बी.काम पास किए। बी.एड. की ट्रेनिंग दार्जिलिंग ट्रेनिंग कॉलेज में की। पढ़ाई में वे मेहनती और अच्छे विद्यार्थियों में से एक थे।

पढ़ाई समाप्त करके 1969 से डिमडिमा फातिमा हाईस्कूल के एक आदर्श शिक्षक के रूप में कार्यरत रहे। इसके साथ ही समाजप्रेमी होने के कारण समाजसेवा मूलक कार्य भी करते रहे। विगत 1980 में उतजास के संगठन के माध्यम से आदिवासी, पिछड़े और अनउन्नत समाज की रक्षा हेतु आन्दोलन को संगठित करने के लिए यू.टी.जे.एस. से जुड़े एवं आजीवन जुड़े रहे। चाय-बगान श्रमिकों की हित रक्षा का आन्दोलन चलाते रहे।

इसके बाद समाज के दलित एवं पिछड़े जनसमूह तथा कृषि मजदूरों की हित रक्षा के उद्देश्य से तथा मुख्य धारा के राजनैतिक दलों के बाहर से, समाजवादी चिन्तक डा. राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण एवं बाबा साहेब अम्बेडकर के आदर्शों को मानने वाले दल - समाजवादी जन परिषद की स्थापना से वे सक्रिय रूप से जुड़े। दल में राज्य अध्यक्ष, महामंत्री एवं राष्ट्रीय कमिटी में रहे।

उल्लेखनीय है कि 1986 वर्ष में उतजास द्वारा सन्त्रासवादी कार्यकलाप के विरोध में आयोजित रास्ता रोको आन्दोलन करते हुए वे जेल भी गये।

विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं के साथ जुड़े रहे। वे जटेश्वर के अन्तर्गत समता केन्द्र के ट्रस्ट बोर्ड के सदस्य रहे एवं जीवन पर्यन्त समता केन्द्र का कार्य करते रहे।

वे पश्चिम बंग टी वर्कर्स यूनियन के महामंत्री रहे, उस समय अनु.जाति/अनु. जनजाति के लोगों की नौकरी एवं जीवन की सुरक्षा के लिए तथा जमीन बचाने के लिए ईंट-भट्ठा आन्दोलन शुरू करके सभी लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

2011 उत्तर बंगाल के दलित एवं शोषित मनुष्यों के कार्य करने हेतु उन्हें भारतीय दलित साहित्य एकाडेमी ने डा. अम्बेडकर नेशनल एवार्ड प्रदान किया।

तिरकीजी के मृत्यु के बाद उनकी पत्नी मार्था तिरकी तथा उनके चार पुत्रों को छोड़ गये। बड़ा पुत्र एक हाईस्कूल में कार्यरत है, मझला पुत्र अलिपुरदुवार कोर्ट में वकील है। तीसरे नम्बर का पुत्र घर में और चौथा पुत्र एक प्राइवेट उद्योग में कार्यरत है।

समाजवादी जनपरिषद के अंचल, ब्लॉक, जिला, राज्य एवं राष्ट्रीय नेतृत्व ने तिरकीजी की मृत्य पर गम्भीर शोक प्रकट किया तथा सभी वर्ग के, सभी धर्म के लोग उनके शोकाकुल परिवार के प्रति सहृदय संवेदना प्रकट की। उनकी आत्मा को शान्ति मिले और स्वर्ग में स्थान मिले इन इच्छाओं के साथ इति।

-बिल्कन बाडा

चंचल मुखर्जी, पाण्डेय हवेली, वाराणसी-221001 द्वारा प्रकाशित एवं दी महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित